जताना कितना खतरनाक है। जीवन का मार्ग वैसे ही डाँवाडोल है। तिस पर इन कृत्यों द्वारा उसे और भी अधिक विकट बना देना कोई बुद्धिमानी की निशानी नहीं है।

अस्तु, ये कलाएँ यदि सम दृष्टि से देखी-अपनाई जायँ तथा नारी-समाज द्वारा इनका उपयोग पति की सेवा हेतु, उन्हें कुमार्ग पर जाने से रोकने हेतु किया जाय तब तो उचित है, किन्तु एक पतिव्रता स्त्री के लिए अपनी लाज, अपने शरीर के हाव-भाव-अंगोपांगों को दूसरों के सामने प्रकट करना निन्दनीय है एवं समकित के विरुद्ध है।

सत्यभामा की कथा का प्रसंग चल रहा है। वह चौंसठ कलाओं की ज्ञाता थी और वह सम्यक् दृष्टि आत्मा थी। उसकी यह सम्यक् दृष्टि उसकी सबसे बड़ी कला थी। अपने मधुर व्यवहार एवं मीठे वचनों से वह सबको अपने वश में रखती थी। कहा गया है—"सबको वश में·········मीठे, मधुर वचन।" अर्थात्, मीठे एवं मधुर वचन सभी लोगों को वश में कर लेते हैं।

हम सभी यह चाहते हैं कि सब लोग हमें प्रेम करें, हमारा आदर करें और हमारे वश में रहें। किन्तु हम ऐसा कर सकें इसके लिए हमारे पास क्या गुण है ? ऐसी कौन सी शक्ति है अथवा ऐसा कौनसा वशीकरण मंत्र हमारे पास है जिससे हम ऐसा कर सकें ? क्या सत्यभामा के पास ऐसा कोई मंत्र था जिससे कि वह सबको अपने वश में कर लेती थी ? हाँ, उसके पास एक (मंत्र) था, और वह यही मंत्र था कि वह सम्यक् दृष्टि थी और उसकी वाणी मधुर थी। आप भी यदि उसी दृष्टि से चलना सीख जायँ तथा अपनी वाणी एवं वचनों को मधुर बनालें तो आप भी सबको अपने वश में कर सकते हैं। कहते हैं—कि "आप भला तो जग भला।" इसी प्रकार से संस्कृत में कहा गया है कि—"वचने का दरिद्रता ?"—वचन में, वाणी में क्या दरिद्रता करना ? हमारे पास और कुछ हो या न हो, किन्तु मीठी वाणी तो हम बोल ही सकते हैं। अतः हमें यह पाठ सत्यभामा के चरित्र से ग्रहण करना चाहिए।

हाँ, यह मधुरता हमारे हृदय के भीतर से फूटनी चाहिए। हमारे मन

में सवके साथ प्रेमपूर्ण और मधुर व्यवहार करने की सच्ची भावना होनी चाहिए। केवल कृत्रिम मधुर वचन अधिक समय तक टिक नहीं सकते और उनका कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। सच्चा समकिती व्यक्ति हृदय से शुद्ध होता है और फिर उसका व्यवहार भी वैसा ही बनता है।

यहाँ जो माताएँ बैठी हैं, वे समकिती हैं, उनके गुरु भी समकिती हैं, किन्तु अनेक बार देखा जाता है कि वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करती हैं जो कि उन्हें नहीं करने चाहिए। अपने बच्चों को अथवा अन्य व्यक्तियों को सम्वोधन करती हुई—वे 'राँड-वाँड' शब्दों का प्रयोग करती हैं। यह उचित नहीं है। वास्तव में वे ऐसी भावना नहीं रखती हैं और बोलना नहीं चाहती हैं, किन्तु आदत के वश वे ऐसा बोल जाती हैं। तो आज से ये ऐसा नहीं बोलेंगी ऐसा मैं विश्वास करना चाहता हूँ। इससे पूर्व उन्हें किसी ने यह बात बताई नहीं होगी, किन्तु अब आज मैं बता रहा हूँ। आज से सब वहिनें और माताएँ सत्यभामा वनने का प्रयत्न करें।

मनुष्य को सर्वप्रथम अपने दोप देखने चाहिए और अपनी कमजोरी को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि सासू कहे कि बहू लड़ती है और बहू कहे कि सासू लड़ती है, तो इससे किसी का हित होने वाला नहीं है। सत्यभामा का आदर्श अपने सामने रखकर वह कला अपने जीवन में उतारनी चाहिए जिससे ये सभी वहिनें ऊँची उठें। परिवार में किसी भी व्यक्ति को रांड या खोजा आदि अशुभ और अपमानजनक शब्द नहीं बोलने चाहिए। उदयपुर की तरफ कभी आपस में लड़ाई हो भी जाती तो इस प्रकार से बोला जाता था कि—"नहीं दादाभाई सा—मेरे कहने का ऐसा मतलब नहीं है।" तो इस प्रकार के मधुर वचनों को बोलने से क्रोध स्वयमेव ही कम हो जाता है। आज पाश्चात्य सभ्यता के दुष्प्रभाव के कारण हमारे यहाँ की संस्कृति भी विगड़ती चली जा रही है।

अस्तु, जो व्यक्ति समकिती वनना चाहता हो उसे कम बोलना चाहिए, मधुर वचन बोलने चाहिए। किसी के मन को कष्ट न हो ऐसा बोलने में ही

उत्तम पुरुष की शोभा है। यह बात मैं केवल आप लोगों को ही नहीं कह रहा हूँ। मैं स्वयं भी यही विचार किया करता हूँ—कि हे आत्मा ! तू तो साधु हो गया, सदैव यह परीक्षा करता रह कि तेरा जीवन कैसा है और कैसा होना चाहिए। इस प्रकार के आत्मालोचन से ही हमारा कल्याण सम्भव है। कहा गया है– "गुणि जनगणनारंभे........।" इसका अभिप्राय यही है कि हमारा जीवन ऐसा होना चाहिए कि हमारी गणना गुनीजन की गिनती होने पर सर्वप्रथम ही हो। सत्यभामा में यही गुण था, यही कला थी।

मधुर वचन बोलने एवं मीठी वाणी एवं व्यवहार रखने को एक प्रकार की तपस्या ही कहा जा सकता है। आप सब अलग-अलग प्रकार की तपस्या अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार कर रहे हैं। बड़ी अच्छी बात है। किन्तु मैं बहिनों से कहूँगा कि वे इस चातुर्मास में यह तपस्या भी अवश्य करें कि किसी को भी कड़वे वचन नही बोलना। मधुरभाषी व्यक्ति केवल अपने परिवार को ही नहीं, बल्कि समस्त समाज एवं समूचे राष्ट्र को अपने वश में कर सकता है।

वैसे तो सत्यभामा गुणों की खान थीं। किन्तु उनके कुछ गुण ही मैं आपके सामने इस समय रख पा रहा हूं। मधुर वचन के अतिरिक्त उनका एक विशेष गुण था लज्जाशीलता। जिसमें लज्जा होती है, उसमें संयम होता है और जिसमें संयम होता है उसमें ब्रह्मचर्य होता है। इस प्रकार एक गुण के साथ दूसरा गुण स्वयमेव ही संयुक्त होकर आता चलता है और मनुष्य की आत्मा विकसित होती चलती है। मधुर वाणी और लज्जाशीलता के साथ सत्यभामाजी का हृदय स्फटिक के समान स्वच्छ एवं शुद्ध था। इसी कारण वे किसी प्रकार का अनावश्यक भेदभाव नहीं बरतती थीं।

कृष्ण का एक नाम है घनश्याम। मेघ भी ऐसे ही कृष्णवर्ण होते हैं। श्री श्रीकृष्ण के साथ सत्यभामा जी जो कि स्फटिक के समान पवित्र और विद्युत के समान शुद्ध थीं वे कैसी शोभा पाती होंगी ? उन दोनों को एक

साथ देखकर निश्चय ही कवि के मन में यह कल्पना जाग्रत होती होगी कि जैसे काले-काले मेघों के साथ चपल, उज्ज्वलांगी विजली क्रीड़ा कर रही हो।

यह अवर्णनीय शोभा केवल शरीर के रंग के कारण वन जाती हो ऐसा नहीं है। इस शोभा को प्राप्त करने के लिए चाहिए आत्मा की उज्ज्वलता। इन लोगों की आत्माएँ उज्ज्वल थीं, वे वीतरागदेव में पूर्ण श्रद्धा तथा आत्म-निष्ठा रखते थे। वे दान-शील-तप भावना भाते हुए शास्त्रों का समुचित पठन-पाठन रखती थीं। ऐसी ही उत्तम दिनचर्या एवं आदर्श व्यवहार के कारण वे आज भी लोगों द्वारा स्मरण की जाती हैं। आप लोग भी अनेक प्रकार के ग्रन्थों का पठन-पाठन करते हैं, किन्तु याद रखिए कि आत्म-विकास के लिए प्रतिदिन कुछ समय के लिए शास्त्रों का पठन-पाठन भी अत्यन्त आवश्यक है।

सत्यभामा जी शास्त्रों का स्वाध्याय करती थीं। वे अन्य किसी प्रकार के अश्लील एवं निरर्थक ग्रन्थों के अध्ययन में अपना समय और जीवन विनष्ट नहीं करती थीं। आज तो देखने में आता है कि युवक एवं युवतियाँ दिन-रात सस्ते एवं अश्लील वाजारू उपन्यासों को पढ़-पढ़कर अपनी आँखें फोड़ा करती हैं और अपनी आत्मा को पतित वनाती हैं।

कतिपय गुण जो मैंने आपको सत्यभामा के चरित्र के बताये वहीं अन्त नहीं है। वे तो गुणों का समुद्र ही थीं। उनमें गुरुजनों के प्रति अपार भक्ति थी। यह भक्ति कोई अन्धभक्ति अथवा अन्धश्रद्धा के रूप में नहीं थी। बल्कि वे ज्ञानी और तपस्वी गुरुओं के प्रति सच्चा आदर-भाव रखती थीं और गुरुजनों के क्या-क्या नियम हैं इसका पूरा ध्यान रखती थीं।

उनके जीवन में श्रद्धा का समुचित स्थान था तथा अपने परिवार को धार्मिक शिक्षण देने का वे पूरा ध्यान रखती थीं। वे धर्म के महत्व को स्वयं जानती थीं, इसलिए उनका यह प्रयत्न रहता था कि अन्य व्यक्ति भी धर्म के अनुसार चलें, ताकि उनका भी कल्याण हो। जो वस्तु अथवा बात हमें प्रिय हो, तो हमारा कर्तव्य बन जाता है कि हम अपने स्वजनों तक भी वह प्रिय

एवं कल्याणकारी बात पहुँचाएँ। आपको मधुर भोजन—लड्डू, जलेबी प्रिय है। इनको जीमने का न्योता आपको मिले तो आप स्वतः ही यह चाहेंगे कि आपके बाल-बच्चों को भी ये वस्तुएँ प्राप्त हों। और आप सिगरी न्योता मिलने पर कभी अपने बाल-बच्चों और स्वजनों को छोड़कर नहीं जायेंगे।

तो बन्धुओ ! यहाँ तो वीतराग-वाणी का सिगरी न्योता दिया जा रहा है। आप विचार कीजिए एवं इस दुर्लभ अवसर का समुचित लाभ स्वयं भी उठाते हुए अपने समस्त स्वजनों को भी प्रेरित कीजिए कि इस स्वर्ण अवसर का लाभ प्राप्त करने से वे वंचित न रहें। आप लोग अपने-अपने हृदयों को टटोलिए और सोचिए कि आप अपने स्वजनों के हित का इतना ध्यान रखते हैं कि नहीं ? यह दलाली आप करते हैं कि नहीं। यदि यह दलाली चल रही है तो ठीक है। किन्तु यदि आप इतना ध्यान नहीं रखते हैं तो मानना पड़ेगा कि यहाँ समकित नहीं है। सच्चा समकिती व्यक्ति अपने तथा अपने स्वजनों के हित के प्रति कभी ऐसा उपेक्षाभाव नहीं रख सकता।

अस्तु, समकित के विषय में इतनी व्याख्या के उपरान्त आज का समय समाप्त होता है। श्रीकृष्ण की रोचक-कथा चल रही है। आगे जाकर कैसे-कैसे महापुरुषों का उद्भव होगा, यह आप आगे सुनेंगे।

७ | गुरु की शरण

शाँतिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती............।"

भगवान शान्तिनाथ के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण चल रहा है। प्रभु शान्तिनाथ समस्त विश्व में अद्वितीय रूप से शान्ति के सागर एवं स्वामी हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से जितने भी शान्ति के आकर हैं, खजाने हैं, अर्थात् जितनी-जितनी भी आत्माएँ परम शान्ति को धारण करके चलती हैं, उन सबमें प्रभु शान्तिनाथ शीर्पस्थ स्थान पर हैं। इसी दृष्टि से उन सबको 'शान्तिनाथ' के विशेपण से सम्बोधित किया जाता है। जब हम शान्तिनाथ भगवान का स्मरण करते हैं तो उसमें समस्त भगवन्तों का स्मरण समाहित हो जाता है। किसी भी भगवान का स्वरूप उसमें से छूटता नहीं है। राग-द्वेप से रहित होकर जितने भी भगवान बने हैं, वे सब 'शान्तिनाथ' बन गए हैं।

ऐसे प्रभु शान्तिनाथ के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए, जिस मार्ग पर चलने से वह स्वरूप प्राप्त हो सकता है, जिन सीढ़ियों पर चढ़ने से हम उस उच्च स्थिति पर पहुँच सकते हैं, उस दिशा एवं स्थिति तक ले जाने वाली पगडंडी की खोज हमें करनी है।

यह खोज कौन कर सकता है ? यह खोज हमारा आत्मा ही लगा सकता है। जड़ तत्त्व ऐसा कर सकने में सर्वथा असमर्थ है। वह चैतन्य तत्त्व जिसमें ज्ञान है, जिसमें स्व और पर को पहिचानने की शक्ति है, अपने विवेक के दीपक को लेकर जो चल सकता है, वह आत्मा ही प्रभु शान्तिनाथ की मंजिल को प्राप्त कर सकता है।

ऐसा मार्ग जो हमें उस मंजिल तक पहुँचाने वाला है तभी दिखाई दे सकता है जब हमें योग्य सहयोग प्राप्त हो। वह योग्य सहयोगी हमें कहाँ मिलेगा ? ऐसा योग्य सहयोगी कौन है ? तो उसके लिए भगवान महावीर की वाणी के अनुसार जिस शास्त्र की गाथा का अर्थ आपके समक्ष रख रहा हूँ, उसी गाथा से हमें उसका अनुसन्धान करना है। कहा गया है—

तस्सेस मग्गो गुरु विद्ध सेवा.........

शास्त्रकारों ने कहा है कि यदि उस मार्ग को देखना है तो गुरु एवं वृद्ध पुरुषों की सेवा करना चाहिए तथा बालजनों से दूर रहना चाहिए। बालक-जन कैसे होते हैं ? इसकी व्याख्या कुछ शब्दों में पहले भी की जा चुकी है और यथा प्रसंग आगे भी की जायगी। बालक की स्थिति से तात्पर्य किसी छोटे बच्चे से नहीं है। शरीर तथा वय में बड़ा होने पर भी ऐसा व्यक्ति जिसमें हित-अहित का विवेक जागृत नहीं हुआ है, जिसके जीवन में आत्मिक-प्रकाश की किरण नहीं फूटी है, जो अपने मन से आत्मस्वरूप की स्थिति को पकड़ नहीं पाता है, जिसके जीवन में मिथ्यात्व, मोह, भय आदि जमकर बैठे हैं—वह बाल ही है।

अक्षर-ज्ञान की दृष्टि से भी चाहे कोई व्यक्ति सारे संसार का ज्ञान रखता हो, आलिम—फाजिल—हो, किन्तु यह सारा ज्ञान होने पर भी यदि वह उस स्वरूप को नहीं पहिचानता है जोकि यह सारा ज्ञान रखने वाला है, तो वह बाल ही है। ज्ञानी होने के लिए यह जानना भी परमावश्यक है कि समग्र पदार्थों का यह ज्ञान कौन कर रहा है ? संसार के समस्त बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो, किन्तु इस ज्ञान को धारण करने वाले की ओर यदि ध्यान नहीं है तो वह सारा ज्ञान निरर्थक है और ऐसे बाह्य ज्ञान मात्र को रखने वाला बालक-जन है। क्योंकि छोटी वय वाला बालक भी अपनी स्थिति को नहीं पहिचानता है। वह ऐसे भी कार्य कर गुजरता है जिनसे उसको तत्क्षण क्षति पहुँच सके। ऐसा अज्ञानी बालक खेलते-खेलते सर्प से भी खेलने लगता है, मिट्टी खाते-खाते अफीम की डली भी उठा लेता है। क्योंकि उसे यह ज्ञान नहीं कि मुझे क्या वस्तु खानी चाहिए और क्या नहीं खानी चाहिए ? किस

वस्तु से खेलना चाहिए और किस वस्तु से दूर रहना चाहिए ? अपनी बचपन की बुद्धि से वह अपने स्वरूप को ठीक नहीं जानता है और बाहरी खिलौनों में रम जाता है। तभी हम उसे व्यावहारिक दृष्टि से बालक कहते हैं।

इसी प्रकार जो व्यक्ति शरीर से बड़ा हो जाय, बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ प्राप्त कर ले, नाना प्रकार के मॉडल हासिल करले, किन्तु आत्मस्वरूप को न जाने, उसके लिए कहा जाता है कि वह पढ़ा-लिखा बाल है, क्योंकि वह तो बाहरी खिलौनों से ही खेल रहा होता है। आप अपने विषय में भी विचार करेंगे तो पायेंगे कि आप लोग भी खिलौनों से खेलते हैं। आप सोचेंगे कि यह कैसी बात ? हम तो खिलौनों से नहीं खेलते। तो आप सोचिए कि आप जिस सोना-चाँदी रुपये, नोट, मकान, जमीन, जायदाद इत्यादि से जीवन भर खेलते रहते हैं वह सब क्या है ? सोना-चाँदी क्या है ? नोट क्या है ? ये सब वस्तुएँ भी तो उसी मिट्टी में से ही बने हैं जिसमें से एक बालक के मिट्टी के खिलौने बनते हैं। यद्यपि सांसारिक जीवन में इन वस्तुओं का प्रयोजन है, किन्तु इन्हीं को सब कुछ मानकर बैठ जानेवाले को ज्ञानी लोग बाल कहते हैं। अत. आप इनसे अपना समुचित प्रयोजन तो अवश्य सिद्ध कीजिए, किन्तु इन्हें सिर पर चढ़ाकर मत बैठ जाइये। इनसे काम लीजिए, लेकिन सिर पर तो सत्-चित् आनन्दघन को ही रखिए, हृदय में उसी को धारण कीजिए। यदि आप ऐसा कर सकेंगे तो आपकी बाल-संज्ञा हट जायगी। जब तक इनसे उचित प्रयोजन सिद्ध होता है, तब तक इनका सदुपयोग कीजिए, किन्तु इनमें आसक्त मत बनिए। अपने आत्मस्वरूप को जान लीजिए, अपनी शक्ति को पहिचान लीजिए और इस निरर्थक आसक्ति का त्याग करके ज्ञानी बन जाइये।

ज्ञानी कब बनेंगे ? पहले कहा जा चुका है कि सम्यक्त्व आने पर ज्ञानी बना जाता है। जो समकिती बनेंगे वे ही ज्ञानी बनेंगे। तभी बाल-संज्ञा हटेगी। कहा गया है कि—

"आगमधर..................।"

वे जो आगमधर हैं, आगम को धारण करने वाले हैं यदि समकिती हैं

तो आत्म-संज्ञा हट जाती है। यह संज्ञा हट जाने के बाद जीवन में अनेकानेक लाभ होते हैं। ज्ञात-अज्ञात रूप में, जानते-अजानते अनेक प्रकार की विकट परिस्थितियाँ, जो उनके जीवन में आती हैं, उनका अन्त हो जाता है। ऐसी विकट परिस्थितियाँ क्या हो सकती हैं? वे परिस्थितियाँ क्यों आती हैं? इसके उत्तर के लिए आपको कुछ गम्भीरता से सोचना पड़ेगा।

कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति ने इस जीवन में कोई पाप नहीं किया। वह शान्ति के क्षणों में बैठा विचार करता है कि मैं शान्ति की उपासना करूँ, किन्तु अचानक कोई विकट परिस्थिति आ जाती है। वह व्यक्ति सोचता है कि यह क्या हो गया? उसका मन स्वाभाविक रूप से चंचल हो उठता है, वह अधीर हो उठता है। प्रगट में ऐसा होने का कोई कारण उसे समझ में नहीं आता, दिखाई नहीं देता। तो फिर ऐसा क्यों होता है?

बन्धुओ! इन स्थितियों के पीछे एक पूरी शृङ्खला, एक लिंक जुड़ी हुई है—अनेक जन्मों की। आत्मा ने एक नहीं, अनेक नहीं, अनन्त जन्म ग्रहण किये हैं। उन अनन्त जन्मों में उसने जिन-जिन के साथ आसक्ति की है और जिन-जिन वस्तु को पकड़कर रखा है, उनके संस्कार उस आसक्ति के कारण कार्मण शरीर में रहते हैं और इस जीवन को वे उद्वेलित करते रहते हैं। आपकी नाक, कान, आँख इत्यादि इन्द्रियाँ रूपी खिड़कियाँ खुली हुई हैं और उनके माध्यम से वह रज कुछ न कुछ भीतर आती ही रहती है। इसलिए अनेक जन्मों की पाप की शृङ्खला से आत्मा बँधी रहती है।

इस पाप शृंखला को तोड़ना है। और यह शृंखला तब तक नहीं टूट सकती जब तक कि हम दृढ़ संकल्पपूर्वक अपने शरीर और मन की उन खिड़कियों को बन्द न कर दें जिनसे होकर यह पापकर्म की रज हमारी आत्मा में प्रविष्ट हो रही है। उदाहरण के लिए हमारे पास एक सुन्दर बंगला है। शुद्ध प्राणवायु के प्रवेश हेतु उस बंगले में खिड़कियाँ तथा दरवाजे हैं। यह ठीक है, आवश्यक है। किन्तु आँधी चलने पर जब धूल और कचरे के गुबार उन दरवाजे खिड़कियों से आपके घर में आ रहे हों तब आप क्या करेंगे? आप तुरन्त उन्हें बन्द कर देंगे।

इसी प्रकार यह जीवन रूपी बंगला अथवा मकान है। इन दरवाजे और खिड़कियों को खुला रखकर आत्मा निश्चिन्त रहता है। किन्तु इन्हीं खुले द्वारों से कर्म प्रविष्ट होते हैं और आत्मा को सताते रहते हैं।

आप कहेंगे—महाराज ! हमने तो पूर्वजन्मों को देखा ही नहीं, तब वह पूर्वजन्मों की कर्म श्रृंखला इस जन्म के साथ कैसे जुड़ गई ? वे कर्म अब हमें इस जन्म में किस प्रकार सता रहे हैं—यह बात हमारी समझ में आ नहीं रही है।

आपके प्रश्न का समाधान में इसी जन्म का उदाहरण देकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा। मान लीजिए आप किसी एक बड़ी संस्था में, फर्म में अपना हिस्सा, अपना शेयर डालते हैं। अब जब विधिपूर्वक आप एक संस्था में अपना हिस्सा डाल देते हैं, तब उस संस्था के लाभ-हानि में भी सम्मिलित रहते हैं। कोई व्यक्ति दो आना, कोई चार आना, कोई आठ आना—इस प्रकार लोग उसमें हिस्सा डालते हैं और इच्छा करते रहते हैं कि संस्था खूब फले-फूले ताकि उन्हें खूब लाभ हो। कम से कम हिस्से वाला व्यक्ति भी यह चाहेगा कि संस्था को खूब लाभ हो जिससे कि उसे भी मुनाफे का भाग मिल सके। इस प्रकार सभी हिस्सेदारों का हिस्सा उसमें चलता रहता है।

अब कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति संस्था में हिस्सा डालकर परिस्थिति-वश किसी दूर, अन्य देश में चला जाता है। वह देश हजारों मील दूर है। वहाँ उसके सामने संस्था नहीं है। संस्था से सम्बन्धित किसी भी प्रकार की कोई प्रक्रिया भी नहीं है और वह व्यक्ति अपने व्यवसाय में, अपने कार्य में, अपने किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति में यह भी भूल जाता है कि कोई संस्था, किसी देश में ऐसी भी है, जिसमें कि किसी समय, किसी काल में, उसने कोई हिस्सा डाला था। अब वह व्यक्ति तो उस संस्था के विषय में सब कुछ भूल गया। अपनी दृष्टि से उस व्यक्ति का उस संस्था से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा। किन्तु, बन्धुओ ! स्मरण रखिए कि उस व्यक्ति ने विधिपूर्वक उस संस्था में अपना हिस्सा डाला था। अतः वह व्यक्ति चाहे कहीं भी कितनी भी दूर चला जाय, चाहे वह उस संस्था के विषय में ज्ञान रखे अथवा नहीं,

२ : शान्ति के सोपान

भगवान की ओर से इन्हीं प्रश्नों का उत्तर दिया गया है कि—"मन में धैर्य को धारण करके शान्ति के स्वरूप को समझने का प्रयास करो। मन के स्वरूप को व्यवस्थित रूप से जानने का प्रयत्न यदि करोगे तो तुम्हारे जीवन में शान्ति का वह अजस्र स्रोत स्वयं ही फूट निकलेगा तथा जीवन अमृतमय बन जाएगा। शान्ति के महामन्दिर में प्रवेश प्राप्त कर सकने का यही प्रथम सोपान है।"

इस प्रकार श्रीजिनेन्द्र भगवान द्वारा व्यक्त किए गए यथार्थ तत्व को भली प्रकार समझकर, उसमें पूर्ण श्रद्धा रखकर आचरण करना ही शान्ति के प्रथम सोपान पर आरोहण करना है। इसी तत्व को दृष्टि में रखकर मैंने कल कुछ विचार प्रस्तुत किए थे तथा आज ही उसी शृंखला को आगे बढ़ा रहा हूँ।

दृष्टि दो प्रकार की हो सकती है। एक वैज्ञानिक दृष्टि तथा दूसरी दार्शनिक दृष्टि। वस्तुतः यह एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के दो प्रकार हैं तथा उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं हैं। ऊपर से देखने पर जो भेद दृष्टिगत होता है, वह मात्र प्रक्रिया का ही भेद है। वैज्ञानिक भी तत्व की खोज में आगे बढ़ना चाहता है, किन्तु वह इयत्ता अथवा गिनती के रूप में चलता है, जबकि आध्यात्मिक विज्ञान के वेत्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रभु ने जो निर्णीत वचन कहे हैं और उनके द्वारा जिन तत्वों का प्रतिपादन किया गया है वे तत्व समग्र विश्व के तत्वों को समाहित करने वाले हैं तथा सर्वकाल के लिए अखण्ड हैं। वैज्ञानिक की दृष्टि खण्डित दृष्टि होती है। एक-एक खण्ड को लेकर चलने वाली वह दृष्टि प्राय एकांगी ही रह जाती है और इसी कारण किसी एक युग में प्रतिपादित वैज्ञानिक सत्य किसी दूसरे युग के अन्य किसी वैज्ञानिक द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है। इसके विपरीत जिन भगवान द्वारा उद्घाटित सत्य अथवा तत्व अकाट्य, स्थिर एवं सार्वकालिक सत्य के रूप में सदैव ही विद्यमान रहे हैं तथा आगे भी रहेंगे।

समग्र विश्व के तत्वों को समाहित करने वाले उन तत्वों में जो दो शब्द प्रमुख रूप से आए हैं, वे हैं—जड़ और चेतन। जड़ की स्थितियाँ विभिन्न हैं।

लेकिन संस्था की लाभ-हानि में उसका हिस्सा बना हुआ है और वह उसे लेना-देना पड़ेगा ही।

हाँ, ऐसा हो सकता है कि उस व्यक्ति के अनुपस्थित होने पर अन्य लोग मुनाफे की रकम बाँटकर खा जाँय। किन्तु मान लीजिए कि उस संस्था का दिवाला निकल जाता है। तब अन्य भागीदार क्या करेंगे? वे लोग हिसाब लगाकर उसके हिस्से के नुकसान की पाई-पाई उसके हिसाब में डालेंगे, उसका पता लगायेंगे, उसे पत्र देंगे कि अपने हिस्से का नुकसान अदा करो।

अब वह व्यक्ति एक बार तो बड़े विस्मय में पड़ जायगा कि अरे! यह क्या मामला है? यह कौन-सी संस्था है? मुझे तो कुछ ध्यान नहीं, कुछ ज्ञान नहीं, कुछ स्मरण नहीं। मेरा तो उस संस्था से कोई सम्बन्ध नहीं। तो क्या उसके ऐसा सोचने से और ऐसा उत्तर देने से काम चल जायगा? नहीं चलेगा।

इसी प्रकार आप अपनी स्थिति को समझिए। पूर्वजन्म के कर्म को, उस पूर्व जन्म को आप भूल चुके हैं, आप ऐसा सोचते हैं कि न कोई जन्म था, न मैंने ऐसा कोई कर्म किया। किन्तु आपके ज्ञान में आज यह बात न होने से काम चलने वाला नहीं है। आपको ज्ञान और ध्यान नहीं है, तो यह आपका दोष है, लेकिन वह कर्म तो है—इसके प्रसंग में वह फर्म तो है—आप उसके भागीदार हैं और, आपको जवाब देना है, अर्थात्, आपको अपने पूर्वजन्म के सभी कर्मों का फल भोगना है, चाहे वह फल अच्छा है चाहे बुरा।

अस्तु, उस व्यक्ति के, जिसने कि एक फर्म में अपना हिस्सा डाला था, यह लिख देने से छुटकारा नहीं होने वाला कि उसे उस संस्था के विषय में कुछ ध्यान नहीं है जिसमें कि नुकसान हो गया है। उसके अन्य भागीदार उस पर दूसरे देश की सरकार से मुकदमे कायम करेंगे और अन्ततः उस व्यक्ति को नुकसान का अपना हिस्सा अदा करना ही पड़ेगा और वह अदालती [illegible] देनी [illegible] कि वह हिस्सा पूरा अदा नहीं हो जाता।

बन्धुओ! अब तो आप इस स्थिति को समझ ही गए होंगे। इस अवस्था

रूपी सेठ ने जिस जीवन में भी यह रहा है, अनेक संस्थाओं में अपना हिस्[सा] डाला है। वह हिस्सा उस आत्मा का है और उसे वह स्वीकार करना [ही] पड़ेगा।

आप एक और कल्पना कीजिए मान लीजिए कि आपने ए[क] बहुत बड़ी हवेली बनाई और यह सोचकर बनाई कि आपके बाल-बच्चे उस[में] सुख से रहेंगे। पांचों इन्द्रियों का भोग करते हुए वे लोग उस हवेली [में] आराम पाएँगे। प्रत्येक गृहस्थ की ऐसी ही भावना रहती है किन्तु आगे आ[ने] वाले लोग—आपके बाल-बच्चे, आत्मा-परमात्मा का कोई ज्ञान नहीं रख[ते] और मात्र भौतिक एवं ऐन्द्रिक सुखों में ही वे लिप्त हो जाते हैं तथा [अनेक] प्रकार पाप-कर्म करते हैं। तो आपकी आत्मा ने तो उसमें अपना हिस्सा डा[ल] दिया। आपके बाल-बच्चे आपकी बनाई हवेली में जो कुछ भी पाप कर्म क[र] रहे हैं। उसमें आपका भी हिस्सा है। क्योंकि आप उसमें पाप की प्रकि[या] करने कराने तथा अनुमोदन करने वाले बन जाते है।

तो बन्धुओ ! कथन का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति ऐसी व्यवस्[था] करके जाता है, ऐसी हवेली बनाकर जाता है, जिसमें कि कोई पाप कर्म हो[ता] है, तो उसे उस कर्म का अपना भाग भोगना ही पड़ता है। एक तो बात य[ह] है कि चाहे उस व्यक्ति का दूसरा लोक हो गया, किन्तु आत्मा तो वही [है] जिसने कि हवेली बनाई और जिसकी आशक्ति उस हवेली में बनी रही [।] दूसरा उसके स्वयं ने चाहे कभी सोचा भी न हो किन्तु यदि उस हवेली [में] भविष्य में कोई वेश्या आकर रहने या कोई कत्लखाना उसमें खुल गया- अर्थात् उसमें पापकर्म चालू हो गए तो जो-जो पाप उसमें होंगे, उसका हिस्[सा] उस व्यक्ति को भी पहुँचेगा। इस प्रकार यह शृंखला जन्म जन्मान्तर त[क] पहुँचती है।

इस पाप कर्म की शृंखला से बचने का उपाय यही है कि सर्वप्र[थम] स्वयं व्यक्ति किसी भी प्रकार के पाप करने से बचे तथा सांसारिक वस्तुओं [के] मोहजाल से दूर रहे। इसी के साथ वह अपने मकान से तथा अपने परिव[ार]

वे सदस्यों से भी ममत्व तोड़कर अध्यात्म जीवन के मार्ग पर अग्रसर हों । देखने में ऐसा आता है कि अन्तिम समय आने पर भी व्यक्ति का ममत्व छूटता नहीं है । उस समय भी आत्मा नहीं चाहती कि मैं इनको छोड़कर जीवन में जाऊँ । वह नहीं चाहती कि परिवार के सदस्य छूट जायँ, बढ़िया हवेली छूट जावें । किन्तु उसके ऐसा चाहने से कुछ नहीं होता । विवश होकर यमराज के हवाले होना ही पड़ता है, मृत्यु के मुख में जाना ही पड़ता है । आत्मा स्वयं अपनी इच्छा से आगे बढ़े और ममत्व के बंधन तोड़ दे तो बहुत अच्छा हो । लेकिन ऐसी आत्माएँ विरली ही होती हैं । जहाँ पुण्य का भाव होता है, त्याग का भाव होता है, वहाँ इस धार्मिक भावना के कारण ममत्व भाव समाप्त होता है और जाने वाली आत्मा पाप की शृंखला से बची रह सकती है ।

इसके विपरीत जो आत्माएँ स्वेच्छा से ऐसा त्याग नहीं करती वे उक्त पाप शृंखला से बद्ध बनी रहती है । अन्तिम समय में संथारा कराया जाता है और कहा जाता है कि भाई, अब तो भगवान का नाम लो, तो वह व्यक्ति कहता है- भगवान नामक आसामी से इतने रुपये लेने हैं, वह ले लेना । कहा जाता है कि भाई, अन्त समय है, अब तो राम-राम कहो । तो वह कहता है—राम की भी जो डिग्री करा दी है तो कुर्क करा लेना । कथन का अभिप्राय यह है कि अन्तिम क्षण तक उस व्यक्ति का ममत्व छूटता ही नहीं और वह अपनी आत्मा के कल्याण की ओर से सतत आँखें मूँदे रहता है । ऐसे व्यक्ति का कल्याण किस प्रकार से सम्भव है ? कहा गया है कि—"अन्तिम मति सो गति"—इस कथन पर विचार करते हुए अपनी आत्मा के संस्कार को शुद्ध करने पर हम सब लोगों का ध्यान रहना ही चाहिए, क्योंकि अन्तिम समय में जैसी मति होगी, जैसे संस्कार आत्मा के होंगे, वैसी ही गति हो जाती है । परन्तु अनन्त जन्मों के संस्कार आत्मा के साथ चलते हैं, अनन्त जन्मों की क्रियाओं के परिणाम उसे भोगने पड़ते है । उन क्रियाओं के परिणाम फलस्वरूप ही वह आगे आनेवाले भवों में भुगताई जाती है । इस समय आप स्थानक में बैठे हैं और सोचते हैं कि आपने तो कोई पाप कर्म नहीं किया,

किन्तु आपका मन अपने पूर्व जन्मों के कर्म के परिणाम स्वरूप उद्वेलित हो सकता है।

बन्धुओ ! इस प्रकार की पाप की प्रक्रियाओं का विधिवत् खाता उस समय बनता है जिस समय वह आत्मा अपने आपको नहीं पहचानता है। परन्तु उसके पाप का लेखा-जोखा तभी टूटेगा जबकि वह विधिवत् उसे तोड़ेगा। जिस प्रकार एक गृहस्थ किसी संस्था के खाते को तोड़ना चाहे तो उसे वकील के पास जाना पड़ता है और वकील उसे उस खाते को तोड़ने की विधि बताता है कि इस-इस प्रकार से बोलना, ऐसे-ऐसे करना। वकील के कहे अनुसार करने से ही वह खाता टूटता है। उसी प्रकार संवर की आराधना करने से अनन्त जीवन पाप की क्रियाओं पर ब्रेक लग जाता है, अर्थात् वे क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। उस पापधारा के आने का मार्ग बन्द हो जाता है। ऐसा होने पर पहिले के जमा हुए कचरे को साफ किया जा सकता है। यदि हम एक बंगले को साफ करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमें उसके दरवाजे खिड़कियाँ बन्द करनी पड़ेंगी, ताकि उनमें से और कचरा न आए तथा हम भीतर के कचरे को साफ कर सकें। यदि हम झाड़ू देकर भीतर का कचरा बाहर निकालते रहें और बाहर से आनेवाले कचरे को न रोकें, तो फिर कितनी भी सफाई करो मकान साफ होने वाला नहीं है। उसमें तो प्रतिक्षण नया कचरा आता ही रहता है।

इसी प्रकार से आत्मा के जन्म-जन्मान्तर के पापों को परिमार्जित करने के लिए आगमधर समकिती गुरु से ज्ञान प्राप्त कर उनकी शरण में जाकर ब्रेक लगवाना चाहिए। जो व्यक्ति समकिती बन जाता है उसके मन में यह भावना जाग जाती है कि अनन्त जन्मों के पापों को ब्रेक लगे तथा भविष्य के लिए भी उज्ज्वल बने। वह व्यक्ति यह विचार करने लगता है कि संसार में जितने भी हेय, ज्ञेय, उपादेय के पेटे में पदार्थ हैं, जितने भी भौतिक तत्त्व कृत्रिम रूप से, मेरे सामने हैं तथा जिस परिवार के मोह में पड़ा हूँ तथा अशुभ सम्पर्क करने से जो मैं जीवन का ह्रास कर रहा हूँ—वह सब समाप्त हो, अब एक दिन शीघ्र ही ऐसा आए जबकि मैं इन सबका प्रत्याख्यान करूँ

शान्त, दान्त और क्षमाशील बनूं एवं जो इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं उनके पास प्रव्रज्या लेकर अणगार अर्थात् घर से रहित होकर तथा सभी जीवों को अपना ही परिवार मानकर चलूं। ऐसी दृढ़ संकल्प की भावना जिसमें उत्पन्न होती है वह समकिती बन जाता है। वही आगे की सीढ़ी चढ़ता है। विचार के क्षेत्र से आगे बढ़कर वह क्रिया के क्षेत्र में उतरता है तथा अपनी भावना के अनुसार आचरण भी करता है। वह व्यक्ति शुभ दृष्टि से एक नवकारसी भी करता है आधी रात के समय से सूर्योदय से अड़तालीस मिनिट तक मैं किसी भी वस्तु को अपने मुख में नहीं डालूंगा, ऐसा त्याग यदि करता है तो जो अव्रत की प्रक्रिया है, वह रुक जाती है। अर्थात् समकित के कारण अव्रत की प्रक्रिया रुकी। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जो अव्रत की क्रिया इस जीवन में लग रही थी वह नवकारसी से कट जाती है।

आप आश्चर्य करेंगे तथा पूछेंगे कि यह क्रिया कैसे रुक जाती है? तो मैं आपको सीधी सी बात बताता हूँ। मान लीजिए कि एक व्यक्ति ने तपस्या प्रारम्भ की। तपस्या आप लोग भी करते ही रहते हैं। यह नया शहर है, यहाँ काम धीरे-धीरे होता है, किन्तु तपस्या आप भी करते हैं। माताएँ भी करती हैं, माताएँ कुछ आगे रहती हैं। खैर, कल्पना कीजिए कि तपस्या आगे बढ़ी। तीस दिन की तपस्या हो गई। अब इकतीसवें दिन वह व्यक्ति विचार करता है कि अब मुझे पारणा कर लेना है, अर्थात् भोजन ग्रहण कर लेना है। तो तीसवें दिन यह विचार बना रहता है कि कल के सूर्य उदय होने पर मैं स्वतन्त्र हो जाता हूँ और मैं तपस्या का पारणा कर लूँगा। तो अब उसकी भावना यह बनती है कि तपस्या आरम्भ करने से पूर्व मैं जितना भोजन करता था उतना ही भोजन करूँगा। सो इतनी तीव्र भावना के साथ तीस की रात पूरी होने पर और इकतीसवें दिन वह भोजन करता है और वह कुछ [illegible] कर दूध या रस लेता है। दूसरे दिन इससे कुछ अधिक और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। जठराग्नि मन्द पड़ जाने के कारण एक साथ वह इतना भोजन नहीं कर सकता जितना कि वह

चाहता है। किन्तु उसकी भावना उतना ही भोजन करने की बनी हुई है। तो ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति तपस्वी कहलाएगा अथवा भोजन प्रेमी ?

इसी प्रकार अनादिकाल से इस आत्मा के साथ इस अव्रत की, तपस्या-व्रत नहीं करने की समस्या चल रही है। किन्तु जब व्यक्ति सच्चा समकिती बन जाता है तब वह सोचता है कि मुझे समग्र विश्व के पदार्थों की आशक्ति का त्याग करना है और अपने जीवन में जितना हो सके अधिकाधिक त्याग को लेकर चलना है। तो उस धरातल पर वह एक नवकारसी करता है तो वहाँ फिर उसे अव्रत की क्रिया नहीं लगती। इस प्रकार उसके अव्रत रुक जाते हैं। दूसरे शब्दों में समुद्र के बराबर आते हुए पाप रुक जाते हैं और धीरे-धीरे वह आगे बढ़ता है और उसका जीवन मंगलमय बन जाता है।

बन्धुओ ! प्रत्येक इन्सान को उसी धरातल पर सोचना चाहिए कि मैं शान्ति के सोपान पर चढ़ सकूं। दूसरी सीढ़ी पर चढ़ने के लिए इसी तरह सारे व्रतों का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार बालकजनों से दूर रहने तथा व्रतों को धारण करने का जो व्यक्ति ध्यान रखता है, वही इस सीढ़ी पर चढ़ता है, वही समकिती बनता है। विचार के साथ जब क्रिया आरम्भ होती है, तभी शान्ति के दूसरे सोपान का प्रारम्भ होता है। आप इस बात को ध्यान में रखेंगे तो आप भी निश्चय ही मंगल के अधिकारी बनेंगे।

भाइयो ! द्वारिका नगरी का वर्णन चल रहा है। इस नगरी का समग्र रूप अभी मैं आपके सामने नहीं रखूंगा। संदर्भ के अनुसार वह वर्णन आपके सामने आता रहेगा। इस समय तो संक्षिप्त में नमूने के तौर पर ही उसका वर्णन कर रहा हूँ। उस नगरी की स्थिति आपके सामने आ रही है। सौराष्ट्र देश में स्थित इस द्वारिका नगरी में श्रीकृष्ण महाराज राज्य कर रहे हैं, जिनके जीवन का वृतांत कुछ आपके सामने आया है। सत्यभामा जैसी उनकी पटरानी है। उनका जीवन कैसा है ? वे धार्मिकता से ओत-प्रोत हैं और उनके हृदय में निर्मल भावना चल रही है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण महाराज के अन्य परिवार की भी स्थिति है, जिसका जिक्र किया गया है। नेमिनाथ

भगवान, जो बाईसवें तीर्थंकर हुए हैं, और बलभद्र जो बलदाऊ जी के नाम से पुकारे जाते हैं— इन दोनों का नाम प्रसिद्ध है परन्तु और भी भाई बहुतेरे थे। इन भाइयों का निर्देश कविता में किया गया है। वे भाई कलियुग के भाइयों की तरह नहीं थे। वे तो एक दूसरे के प्राणों के आधार थे। एक-दूसरे को देखे बिना उन्हें चैन नहीं मिलता था। वे एक-दूसरे से ईर्ष्या नहीं करते थे और एक-दूसरे को लूटने के लिए तत्पर नहीं रहते थे।

आज, इस कलियुग में, भाइयों की क्या दशा है? आज तो भाई एक-दूसरे को हड़पने की ताक लगाए बैठे रहते हैं। एक-दूसरे को नीचा गिराने, एक-दूसरे का शोषण करने के लिए वे तैयार रहते हैं। एक पड़ोसी भी दूसरे पड़ोसी से प्रेम करता है। किन्तु आजकल भाई-भाई तो ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे वे जन्मजात बैरी हों। इसी प्रकार वे आपस में लड़ते रहते हैं। वे चाहते हैं कि भाई की सारी सम्पत्ति किसी न किसी प्रकार से, नीति से अथवा अनीति से, मेरे ही पास आ जाय। यहाँ तक कि वे यह चाहते हैं कि भले ही दूसरे लोग लूट कर ले जायें, किन्तु भाई के पास तो यह सम्पत्ति रहनी ही नहीं चाहिए।

बन्धुओ! इस कथा भाग को सुनकर आप अपने जीवन को मोड़ दें और सोचें कि मैं किन भौतिक विकल्पों में आसक्त हो रहा हूँ, और इस आसक्ति का कितना भीषण परिणाम मेरी आत्मा को भोगना पड़ेगा?

आचार्य श्री जी के मुख से मैंने सुना है कि बम्बई में जब दो भाइयों का बँटवारा हुआ तब सब वस्तुओं का तो बँटवारा कर लिया गया किन्तु एक कुरसी का [illegible] रह गया जो उसके लिए विवाद चला। एक भाई कहने लगा कि यह मेरे पिता का है, अतः इसे मैं लूँगा, इसके लिए हजारों रुपये मैं दे सकता हूँ। दूसरा भी इसी बात पर अड़ गया कि इस कुरसी को तो मैं लूँगा, इसकी दुगुनी कीमत मैं देने के लिए तैयार हूँ।

दोनों सगे भाई। एक [illegible] दूसरा [illegible] का पेट। किसी के पास धन की [illegible] की कोई कमी नहीं। कमी थी, तो सच्चे भ्रातृ प्रेम की। वे

यदि चाहते तो अपनी-अपनी जमीन में एक के स्थान पर अनेक सुपारी के पेड़ लगवा सकते थे। किन्तु इतनी समझ कहाँ ? इतनी सहिष्णुता किसके पास ? इतना धीरज किसे ? भाई के लिए तनिक भी प्रेम किसके हृदय में ? यह तो बम्बई नगरी है, कोई द्वारिका नगरी तो है नहीं। और ये जो भाई हैं सो कलियुग के भाई हैं, कोई श्रीकृष्ण महाराज और उनके भाई तो हैं नहीं।

अस्तु, दोनों भाई अपनी-अपनी जिद पर अड़े हैं—चाहे कितनी भी कीमत देनी पड़े, चाहे कुछ भी हो जाय, सुपारी का पेड़ तो मैं ही लूँगा।

समझौते की कोई सूरत नहीं थी। समझौता नहीं हुआ। परिणामतः मामला कोर्ट में चला गया। बम्बई में वकीलों की भला क्या कमी ? एक से एक बढ़कर वकील दोनों भाइयों की तरफ से कर लिए गए। बन्धुओ ! वकीलों को और क्या चाहिए ? मुहावरे की भाषा में कहूँ तो कह सकते हैं कि अन्धा क्या माँगे ?—दो आँखें। सो वकीलों को तो मुकदमा लड़ने वाले चाहिए। उनका तो यह व्यवसाय ही है। कहिए, वकीलों को पैदा कौन करते हैं ? स्वयं तो वे झगड़ा कराने जाते नहीं। भाई लोग ही यह पैदा कराते हैं। वे जब लड़ते हैं तब वकीलों को बीच में आना पड़ता है। एक वकील कहता है कि तुम्हारा पक्ष मजबूत है, लड़े जाओ, तुम जीतोगे। और दूसरा कहता है कि भाई तुम्हारा पक्ष अविजेय है, लड़े जाओ, जीत, तुम्हारी ही होगी।

एक ओर मुहावरा इस स्थान पर सहज ही याद आता है—चढ़जा बेटा, सूली पर, भली करेंगे राम। तो यह वकील लोग तो यही चाहेंगे। भला सोने की चिड़िया को कौन अपने जाल में नहीं पकड़ना चाहेगा ? अथवा सोने का अंडा देने वाली मुर्गी को कौन छोड़ेगा ?

तो दोनों पक्ष के वकीलों ने दोनों भाइयों को खूब लड़ाया और उनसे खूब धन खींचा। आप जानते हैं कि एक बार जब आदमी मुकदमे में फँस जाता है तो फिर वह पीछे हटना चाहे भी तो हट नहीं पाता। इसमें उसे अपनी हेठी मालूम पड़ती है। अपनी बात रखने के लिए, या अपनी झूठी जिद और झूठी शान रखने के लिए वह अपना सब कुछ लुटाने के लिए तैयार रहता है।

इस प्रकार उन दोनों भाइयों के रुपये पानी की तरह बह गए। तब कहीं जाकर न्यायाधीश के सामने मुकदमा आया। वे दोनों वकील चतुर थे। न्यायाधीश भी बात जानते थे। वे ऊँची भावना रखने वाले थे। उन्होंने जान लिया कि ये वकील दोनों भाइयों को लड़ाकर अपना घर भर रहे हैं। अतः उच्च भावना रखने के कारण उन्होंने शीघ्र ही फैसला दे दिया।

फैसला हुआ— गायों का दूध ही सारे झगड़े की जड़ है, उसे फटवा दिया जाय और दोनों भाइयों में आधा-आधा बाँट दिया जाय।

न्यायाधीश के आदेश का पालन होना ही था। दूध फटवा दिया गया। जल-भूमि में वह दूध नष्ट हो गया।

बन्धुओ! आप सोचिए कि इस झगड़े में किसका, क्या हित हुआ? यदि वह दूध किसी एक भाई के पास रह जाता और उसे थोड़ी-बहुत आमदनी अधिक हो जाती तो क्या अनर्थ हो जाता? या वह दूध दूसरे भाई के हिस्से में चला जाता तो पहले भाई की क्या हानि हो जाती? कुछ भी अनर्थ किसी भाई का होने वाला नहीं था। किन्तु स्वार्थ की ज़िद के कारण दोनों भाइयों के सारे रुपये बरबाद हुए और हाथ किसी के कुछ भी नहीं लगा, उल्टा मन दुःखी और हृदय-रूपी दूध अपनी सुख ज़िन्दगी में फटता गया।

अस्तु, यह कहानी क्या इस कलियुग के भाइयों की है। वे थोड़ी आपस में लड़ते-झगड़ते हैं और [illegible] अदालतों में मुकदमे करते हैं। इसे समझना चाहिए कि यह कैसा खेल होता है। मैं तो कहूँगा कि वे [illegible] हैं।

राज्य की व्यवस्था के लिए त्रिखंडाधिपति वासुदेव कितने सजग और तत्पर थे, इसका लेखा-जोखा तो वहाँ की स्थिति का अध्ययन करके ही किया जा सकता है। बन्धुओ ! राज्य की व्यवस्था किस प्रकार की जाय, वह व्यवस्था किस प्रकार की हो, कौन सी राज्य-व्यवस्था स्थायी हो सकती है तथा जनता के लिए हितकर हो सकती है—ये सारी बातें कोई समकिती व्यक्ति ही सोच सकता है। इसके विपरीत जिसका जीवन विषम है, ऐसा व्यक्ति कभी सच नहीं कह सकता। केवल ढिंढोरा पीटने से कुछ नहीं हो सकता कि हम जनता के लिए यह कर रहे हैं या वह कर रहे हैं। स्वयं अपने जीवन का अवलोकन करना चाहिए और देखना चाहिए कि वहाँ काले धब्बे तो नहीं हैं। जो अपने जीवन को नहीं देखता है और अपने स्वरूप को नहीं देखता है तथा समकिती नहीं बनता है, वह थोड़े दिन भले ही सब्जबाग दिखा जाय, किन्तु वह राज्य व्यवस्था कभी स्थायी नहीं बना सकता, कभी जनता का वास्तविक हित नहीं कर सकता।

कृष्णमुरारी ने स्थायी, हितकारी राज्य-व्यवस्था बनाई थी। उसका कारण था कि वे समकिती थे। वे अपने जीवन के साथ सम स्वरूप समझने के साथ राज्य व्यवस्था करते थे। वहाँ कुछ लेना-देना नहीं था। जो भी खराब व्यवस्था थी, उसे हटाकर वे लोक व्यवहार कर रहे थे। फिर भी, सुन्दर राज्य-व्यवस्था जम जाने के बाद भी जब बहुत से दुर्मति राजा लोग—दुर्योधन, जरासन्ध आदि ऐसे थे जो उपद्रव कर रहे थे, जिससे कि जनता की स्थिति डाँवाडोल हो रही थी, जनता कष्ट पाती थी, तो उसको ठीक जमाने के लिए लोक-व्यवहार के साथ वे धार्मिक दृष्टि भी रखते थे। जनता को जब फुरसत होती तो जीवन के उत्थान हेतु आध्यात्मिक चर्चा भी किया करते थे।

आज के युग में यदि अपने व्यवसाय से कुछ समय मिल जाय तो लोग क्या करते हैं ? वे या तो सिनेमा की चर्चा करेंगे, या इधर-उधर की एक-दूसरे की बुराई की चर्चा करेंगे कि इसने यह किया और उसने वह किया। किन्हीं व्यक्तियों की मित्रता होगी तो सोचेंगे कि उनकी मित्रता कैसे तुड़ाई

ये विभिन्न पर्याय सारे के सारे आपके सामने हैं। यह पंडाल, खंभे, टिनशेड आदि सभी आपकी दृष्टि में आ रहे हैं। आप तनिक विचार कीजिए कि ये सब इस रूप में कैसे आए ? आप जानते हैं कि ये सभी वस्तुएँ जड़ पुद्गलों (Matter Atoms) से ही बनी हुई हैं। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी आपको जानना ही चाहिए कि ये सब स्वतः ही निर्मित नहीं हो गए हैं। इन्हें बनाने वाला इनसे भिन्न कोई कारीगर है। जड़ पुद्गल में अपनी स्वयं की यह शक्ति नहीं होती कि वह कोई भी स्वरूप धारण कर सके। यदि ऐसी शक्ति उसमें होती तो एक मिट्टी का ढेला पंडाल बनकर यहां छा जाता। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इनको बनाने वाला एक कोई विशिष्ट विज्ञानी है, जो कि स्व—पर को पहिचानने की शक्ति अथवा ज्ञान अपने अन्दर रखता है। वही इन्हें बनाने वाला है।

स्व एवं पर का ज्ञान रखने वाले ऐसे किसी कारीगर अथवा विज्ञानी ने ही इन सभी वस्तुओं का निर्माण किया है। उन जड़ पुद्गलों को उसने सांचे में ढाल कर ऐसे टिनशेड का निर्माण किया कि पानी की एक बूंद भी नीचे नहीं आ सके। इसी प्रकार से लकड़ी अथवा लोहे के कच्चे रूप में, जड़ स्वरूप में विद्यमान पुद्गलों से कारीगर ने खंभों का भी निर्माण किया। यह कारीगर ही कर्ता है, उसका ज्ञान है, उसकी शक्ति है। कारीगर एक व्यवस्था के अनुसार भौतिक तत्वों को एकत्र करके उनसे किसी एक विशिष्ट वस्तु का निर्माण करता है। इन भौतिक तत्वों में निर्मित हो सकने का गुण अवश्य है, किन्तु इनमें स्वयमेव ही व्यवस्था पूर्वक निर्मित हो जाने की शक्ति नहीं है। यह स्थिति अथवा शक्ति तो केवल चैतन्य में ही है। यह चैतन्य तत्व ही सारे संसार में कर्तापद का अनुभव करता है तथा कर्तापद से सम्बोधित किया जाता है।

इस चैतन्य तत्व को निष्क्रिय मान लेने से व्यवस्था का सारा ढांचा ही चरमराकर ढह पड़ेगा। यह तो क्रियावान ही है। जिस आत्मा में ज्ञान एवं दर्शन की शक्ति है, तथा जिसमें अनन्त शक्ति भी चारित्र के रूप में दृष्टिगत होती है, उसी में क्रियावती शक्ति भी निहित है। और इससे वह चाहे किसी भी रूप में रहे। परन्तु क्रिया का द्योतन करता है, अर्थात् कर्तापन को प्रगट

कुछ भी नहीं है। यह तो वर्णमाला है। आपको तो शान्ति के सोपान पर बहुत आगे चढ़ना है। सभी भाइयों को समझाना है कि आप भी धर्मस्थान पर पहुँचें तो प्रण करलें और मौन धारण करलें। इस स्थान पर आकर हम आध्यात्मिक खोज करें और आत्मा की शान्ति का सोपान प्राप्त करने का प्रयत्न करें। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के लिए कोई कठोर वचन न निकाले।

भाइयो ! मनुष्य गलतियों का भाजन है। भूल हो जाना स्वाभाविक है। भूल हो जाने पर एक तो प्रेम से समझाया जा सकता है और दूसरा कठोर वचनों से डाँटा-फटकारा जा सकता है। तरीका यह है कि किसी व्यक्ति का कार्य यदि पसन्द नहीं है और उसको बदलना है तो बड़ों का कर्त्तव्य है कि प्रेम और स्नेह के साथ आदरपूर्वक समझाकर कार्य करें। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हमें अपने वचनों का सदुपयोग करना चाहिए, न कि दुरुपयोग। यदि आप ऐसा करेंगे तो इससे जो स्थिति बनेगी उसका आनन्द भी आप लेंगे तभी जानेंगे। आप ऐसा करके देखिए तो सही।

एक समय कृष्ण की राजधानी में राज्यसभा जुड़ी हुई थी। राज्यसभा में धार्मिक-आध्यात्मिक चर्चाएँ चल रही थीं। उस समय एक अद्भुत दृश्य बना—

सभा में सुन्दर आध्यात्मिक चर्चा चल रही थी कि अचानक सबकी दृष्टि आकाश की ओर खिंच गई। उस न्याय-नीति की वार्ता में भी भंग हो गया। सब देखने लगे कि यह क्या हो गया ? यह तेजपुंज आकाश से किसका आ रहा है ? सभी सभासद आकुल-व्याकुल हो गए। एक मात्र त्रिखंडाधिपति जैसे थे वैसे ही स्थिर रहे, वे तनिक भी व्याकुल नहीं हुए। उन्होंने कहा—

"आकुल या अधीर होने की कोई बात नहीं। ऐसा करने से कोई लाभ भी नहीं होता। यह तेजपुंज कौन है, क्या है, इसका पता धैर्य के साथ लगाना है।"

यह कथन सुनकर जनता कहने लगी—

इस प्रकार परस्पर उचित शिष्टाचार का निर्वाह कर लेने के उपरान्त कृष्ण कहते हैं—

"वावाजी ! आज इन सभासदों का, इस द्वारिका नगरी का और राजभवन का धन्य भाग्य है कि आप जैसे सम्यक् दृष्टि वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान की उपासना करने वाले ऐसे शीलवंत पुरुष यहाँ पधारे। इससे यह राजभवन भी धन्य हो गया, पवित्र हो गया।"

श्रीकृष्ण द्वारा नारद जी की इस प्रकार से अभ्यर्थना करने के वाद सारे नगर निवासियों ने भी इसी प्रकार उन मंगलमय पुरुष की उपासना की। ठीक भी है, वड़े पुरुष जिस प्रकार का आचरण करते हैं—वैसा ही आचरण छोटे पुरुष भी करते हैं। वड़ों का अनुकरण छोटे करते ही हैं। यदि वड़े पुरुष अपनी अपनी स्थिति से जनता को सम्मानित करते हैं तो जनता भी अपने स्वामी का सम्मान करती है। यदि वड़े अभिमान से रहते हैं, तो छोटे भी अभिमान से रहना सीख जाते हैं। यदि वड़े जन सत्कार नहीं करेंगे तो पीछे के लोग भी सत्कार नहीं करेंगे। समदृष्टि आत्मा जव किसी से मिलती है तो आनन्द विभोर हो जाती है और उनके वाल-वच्चे भी आनन्द विभोर हो जाते हैं।

आपने अनुभव किया होगा कि जब सन्तों का आगमन होता है तो बच्चे-बच्ची भी अपने अभिभावकों के साथ दो-चार मील तक पैदल चले जाते हैं। वे यह तो नहीं जानते कि ये कौन सन्त हैं, किन्तु माता-पिता का अनुकरण करके बालक उछलने लगते हैं। त्रिखण्डाधिपति सुसंस्कारों से संस्कारित थे। सम्यक् दृष्टि होने के कारण जब उनका जीवन और लोगों के बीच रहता, तो वे और लोग भी उनसे प्रभावित होते थे और उनका जीवन भी पवित्र वन जाता था। आप से भी मेरा यही कहना है कि आप भी सातों व्यसनों का त्याग करें। आप यदि सम्यक् दृष्टि हैं और शान्ति के सोपान पर चढ़ना चाहते हैं तो जीवन के सभी पहलुओं पर विचार करें।

वन्धुओ ! पुण्य वन्ध के नौ कारण हैं। किन्तु उनमें मन पुण्य, वचन पुण्य और काया पुण्य—इन तीन प्रकार के पुण्यों की स्थिति का जैसा निर्देश दिया गया है तो उनसे भी पुण्य वन्ध होता है। जब सम्यक् दृष्टि आत्मा सम्यक् दृष्टि से, मधुर वचनों से और शरीर से सेवा करता है तो वह मन से, वचन से और काया से पुण्य बाँध लेता है।

अस्तु, आज मैं आपको शान्ति के दूसरे सोपान पर—सीढ़ी पर वैठाकर वात करता हूँ कि—"आगमधर गुरु समकिती……।" उस समझ के साथ यदि आपका ध्यान जुड़ गया तो फिर आनन्द-विभोर होते देर नहीं लगेगी।………

नारद वावा पहुँच गए। वे क्या समाचार लाए हैं और कौन सी नई स्थिति उत्पन्न होती है यह आप आगे सुनेंगे। अभी तो मंगलाचरण हुआ है। शुभ वार्ता हो रही है। आगे क्या स्थिति आएगी यह अभी भावी के गर्भ में है। वह स्थिति जव आएगी तव उसका वर्णन किया जायगा।

किन्तु आज आप इस वात को अपने-अपने हृदयों में अवश्य विठालें कि शान्ति के अमर आनन्दमय मार्ग पर वढ़ने के लिए आपको स्वयं प्रयत्न करना है और समकिती गुरु की शरण खोजनी है। उसके पश्चात् जव आप आत्मावलोकन के सहारे अपने आचरण में वह ज्ञान उतारने लगेंगे तो अवश्य ही शान्ति-सोपान की सीढ़ियाँ चढ़ने के अधिकारी वनेंगे, वैसी योग्यता आप में स्वतः ही उद्भूत होने लगेगी। —इत्यलम्



८ | त्याग का महत्व

"असंखयं जीविय या पमायए……।"

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती……।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में, शान्ति के स्वरूप को समझने-समझाने के लिए पंक्तियों का उच्चारण किया गया है। प्रभु की शक्ति दिव्य शक्ति के रूप में व्यक्त हुई है। उनकी शान्ति सत्-चित्त-आनन्दघन के रूप में परिपूर्ण मात्रा में प्रकट हो चुकी है। ऐसे शान्तिनाथ भगवान के चरणों में विवेक पूर्वक तात्विक रूप को समझाने के लिए कवि आनन्दघन जी ने यहाँ संकेत दिया है। वे कहते हैं कि हे प्रभु ! मैं आपके चरणों में प्रार्थना के माध्यम से शान्ति के स्वरूप को समझने का प्रयास करना चाहता हूँ। अर्थात्, आपको मैं आदर्श रूप में समझूं और अपने इस जीवन में रहने वाले आत्मिक स्वरूप को मैं श्रद्धा दृष्टि से पहिचानूं, इस दृष्टि से पवित्र बनूंगा। मेरे अन्तः-करण की स्थिति आपके आदर्श की पुण्य छाया में उज्ज्वलतम बनेगी। तभी मैं शान्ति के स्वरूप को धैर्यपूर्वक टिका सकूंगा।

सभी भव्य प्राणी अपनी-अपनी भावनाओं को परमात्मा के चरणों में व्यक्त कर सकते हैं और उसके माध्यम से ही शास्त्रीय दृष्टि से उस स्वरूप को प्राप्त करके अनन्त शान्ति के झूले में झूला जा सकता है। ऐसा झूला, ऐसा सुखद हिन्डोला, जो कि सदा काल तक चलता रहे। अन्तःकरण में इसी प्रकार की शान्ति की कामना जागृत होनी चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए वैसी ही साधना भी प्रत्येक जीव को करनी चाहिए।

ऐसी दिव्य शान्ति का स्वरूप भली प्रकार समझ में आ सके, इसके लिए भी कोई ऐसा सुयोग्य साधक होना चाहिए जो समुचित मार्गदर्शन कर सके। उस साधक की स्थिति भी उन्नत, पवित्र एवं दीर्घ दृष्टि वाली होनी चाहिए। ऐसी उच्च स्थिति तक जो पहुँच जाते हैं वे महापुरुष के रूप में—भगवान महावीर की वाणी के अनुसार गुरु-वृद्ध के रूप में प्रकट होते हैं। इसी हेतु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान शान्तिनाथ की चरम शान्ति की मंजिल पर पहुँचने के लिए जो सीढ़ियों का निर्देश दिया गया है उसका विवेचन चल रहा है।

इस गाथा का उच्चारण मैं पुनः पुनः कर रहा हूँ। जिन शब्दों का अर्थ हो चुका है, उन्हें छोड़कर आगे के अर्थ को ग्रहण किया जा रहा है। वह गाथा है—

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा...... ...।"

भाई, यदि तुम उस मार्ग को प्राप्त करना चाहते हो, तो गुरु और वृद्ध-जन की सेवा करो।

इस स्थान पर यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यहाँ 'वृद्ध' शब्द से अभिप्राय केवल वय की, उम्र की वृद्धता से नहीं है। अवस्था की दृष्टि से वृद्ध होना ही पर्याप्त नहीं है। अवस्था तो वृद्धत्व की भी हो सकती है और तरुणाई की भी। किन्तु जो अनुभव एवं ज्ञान की दृष्टि से आगे बढ़े हुए हैं तथा जिनकी आन्तरिक दृष्टि दीर्घकालीन है, जो वस्तु के परछोर को देखने में समर्थ हैं, वे ही वृद्ध की संज्ञा पा सकते हैं, फिर चाहे उनकी उम्र तरुणाई की हो अथवा वृद्धत्व की।

शास्त्रों में स्थविरों का वर्णन जहाँ आया है वहाँ कहा गया है कि साठ वर्ष की वय जिनकी हो जाय वह वयः-स्थविर है। जिसकी दीक्षा पर्याय बीस वर्ष की हो जाय वह दीक्षा-स्थविर है। तथा आचारांग, सूयडांग, ठाणांग, समवायांग इत्यादि शास्त्रों का जिन्हें समुचित ज्ञान हो जाय वह शास्त्र-स्थविर कहलाता है।

अब यदि कोई व्यक्ति उम्र की दृष्टि से भी, दीक्षा की दृष्टि से भी तथा ज्ञान की दृष्टि से भी इन तीनों दृष्टियों से 'वृद्ध' की संज्ञा पा सके तब तो

सोने में सुगन्ध जैसी बात हो जाय। ऐसे महापुरुषों की सेवा करने से ही शान्ति का सोपान प्राप्त हो सकता है।

उपरोक्त शास्त्रीय दृष्टि का कविता में भी थोड़ा संकेत दिया गया है और कहा गया है—

"आगमधर गुरु समकिती·······।"

उत्तराध्ययन सूत्र में जो गुरु का लक्षण बताया गया है उसका कुछ भाव इस कविता की गाथा में भी जुड़ गया है। जब कोई एक लक्ष्य स्थिर हो जाएगा तब फिर उन्नति का मार्ग बताने वाले के मिलने का संयोग भी बैठ जाएगा। तो यहाँ बताया गया है कि इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु जिसका संयोग लिया जाय वह आगमधर हो—गुरु स्थविर हो। गुरु शब्द की व्याख्या पहले की जा चुकी है। वह समकिती हो, इसका भी विश्लेषण मैंने पहले कर दिया है।

अब "क्रिया संवर सार"—यदि इस कथन का सम्बन्ध पूर्व की इन व्याख्याओं के साथ जोड़ दिया जाय, अर्थात् जीवन में जितनी भी क्रियाएँ हो रही हैं उनमें यदि संवर की प्रधानता रहे, तो शान्ति का मार्ग शीघ्रतापूर्वक एवं सरलता से तय हो जाएगा।

इस स्थान पर यह बात फिर से अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि संवर का तात्पर्य क्या है तथा क्रिया की प्रक्रिया क्या है ?

वैसे तो क्रिया का सामान्य अभिप्राय यह है कि जिसके द्वारा कुछ किया जाय या कुछ करना क्रिया है। हिलना-चलना भी क्रिया है। परिस्पंदन भी क्रिया है। हाथ-पैर के हिलने-डुलने, हृदय के धड़कते रहने आदि को क्रिया की संज्ञा दी गई है। यह सारा व्यापार मानव-शरीर में स्वाभाविक रूप से चलता ही रहता है। मानव इन क्रियाओं से सम्पन्न है ही तथा इन क्रियाओं को कोई नए सिरे से निर्माण करने की आवश्यकता नहीं है। इन्सान अपनी आवश्यकतानुसार स्वाभाविक रूप से उठता, बैठता, चलता, खाता-पीता रहता

है। वार्तालाप भी करता है, भय से प्रकंपित होता है। संक्षेप में शरीर सम्बन्धी सभी चेष्टाएँ व्यक्ति की चालू हैं। कोई भी प्राणी इस प्रकार की चेष्टाओं से शून्य नहीं है। क्रिया जड़ के भीतर भी बनती है, यद्यपि वह स्वतः रूप से वैसी व्यवस्थित नहीं बनती जैसी कि चेतन की क्रिया स्वतः व्यवस्थित रहती है। उदाहरण के लिए आपने अपने स्थान पर बैठे हुए विचार किया कि चलो, यहाँ बैठे-बैठे क्या करेंगे, थोड़ी देर के लिए चलकर महाराज का प्रवचन ही सुन आएँ। ऐसी भावना आपके भीतर जागृत हुई। यह विचार आपके मन में उदित हुआ कि सन्तों के समीप जाने से कुछ न कुछ अच्छे संस्कार ही हमारे चंचल मन पर पड़ेंगे, कुछ भगवत्‌वाणी सुनने को मिलेगी।

यह भावना जागृत होते ही आपके शरीर में रहने वाले अधिष्ठाता ने क्रिया करने का आदेश दिया। यह आदेश प्राप्त होते ही शरीर में व्यापार की शक्ति उत्पन्न हुई और यह शरीर पिण्ड ब्यावर के बाजार में होते हुए विरद भवन की ओर बढ़ा। मार्ग में आपको कुछ व्यक्ति भी मिले, कुछ वाहन भी मिले। आपकी किसी से कोई टक्कर नहीं हुई। रास्ते में घुमाव भी आए, दीवारें भी आई, किन्तु उन सबसे बचते-बचाते आप यहाँ पहुँच गए।

दूसरी ओर धूलि को लीजिए, जो कि जड़ है। पवन के सहारे धूलि उड़ने लगती है। जिधर भी हवा का रुख होता है उधर ही धूलि के कण उड़ जाते हैं। सामने यदि दीवार आ जाय तो उसी से टकरा कर वे वहीं गिर पड़ते हैं। तो क्रिया तो आप में भी हुई और धूलि में भी हुई। किन्तु धूलि की क्रिया स्वतः व्यवस्थित नहीं है, जबकि आप में होने वाली क्रिया स्वतः व्यवस्थित है। इसीलिए आप सभी बाधाओं और रुकावटों को पार करते हुए सुरक्षित यहाँ पहुँचे जबकि धूलि के साथ ऐसा नहीं हुआ।

तो यह व्यवस्थित क्रिया-व्यापार करने वाला कौन है?

क्या आपने कभी इस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया है? क्या कभी उसे पहिचानने का प्रयास आप करते हैं? यह व्यवस्थित व्यापार करने वाला कर्ता है—चेतन-आत्मा। धूलि के कण इधर-उधर बिखर जाते हैं,

टकरा कर छिटक पड़ते हैं। क्योंकि वे जड़ हैं, उनका कोई व्यवस्थित क्रिया-व्यापार नहीं है। किन्तु चैतन्य की क्रियाएँ व्यवस्थित होती है, उन्हें और भी सुव्यवस्थित, सुनियोजित करने की आवश्यकता है। उनमें संवर लाने की जरूरत है। संवर का तात्पर्य है संवरण करना, रोकना। आत्मा की ओर आते हुए पापों को रोकना संवर का ही कार्य है, अभिप्राय है। हमारी क्रियाएँ यदि संवर के साथ हों तो पापबंध रुक जाए। हमें अपनी समस्त क्रियाओं को संवर का आश्रय लेकर धार्मिक क्रियाओं की ओर मोड़ देना चाहिए। यदि हम ऐसा करेंगे तो हमारा सोना-उठना, चलना-फिरना इत्यादि सभी क्रियाएँ हमें शान्ति के सोपान की ओर ले जाने वाली वन जायँगी।

मनुष्य-जीवन अमूल्य है। महान् है। हमें इसे और भी भव्य वनाना चाहिए। यदि हमारी क्रियाओं में संवर का संशोधन आ जाएगा तो हमारा आपसी व्यवहार भी निश्चय ही भव्य वनेगा। संवर ऐसा चामत्कारिक है कि क्रिया के साथ मिलाकर वह मनुष्य को आत्मिक शान्ति की ओर शीघ्रता से ले जाता है और मनुष्य में सच्ची मानवता को प्रस्फुटित कर देता है।

मनुष्य जब संवर के साथ क्रिया करना आरम्भ कर देता है तो शान्ति की मंजिल उसके लिए व्यवस्थित बन जाती है, सरल बन जाती है। उससे पापों का परित्याग होता है और धर्म का मधुर रस प्राप्त होने लगता है। जो भी व्यक्ति संवर की आराधना करते हुए क्रिया करेगा, वह क्रिया उसकी मोक्ष मार्ग की ओर होगी। पवित्र मोक्ष-मार्ग में जो भी बाधाएँ और विपत्तियाँ हैं, संवर सहित क्रिया करने से उन सबका परित्याग होगा।

हमारी जो भी क्रियाएँ संवर के साथ जुड़ें, वे त्याग के साथ जुड़नी चाहिए। संवर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। त्यागपूर्वक क्रिया का संवर के साथ जुड़ना स्वर्ण में सुगन्ध के समान है, बल्कि वही क्रिया सार होती है। त्याग के साथ जब इन्सान चलता है तो जीवन में सारा कार्यक्रम व्यवस्थित बन जाता है। अतः त्याग की भावना के पूर्ण महत्व को भी अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए।

कभी-कभी मेरे भाई अपने मन की स्थिति व्यक्त करने के लिए कहते हैं

करता है। कर्मों के आवरण से आवृत होने पर वह कर्तापने के भावों को संसार के समक्ष व्यक्त कर देता है। वह आत्मा चाहे कितने भी और कैसे भी क्षुद्र प्राणी के रूप में क्यों न हो, किन्तु उसमें कर्तापना है।

शक्तियाँ विभिन्न हैं। विभिन्न वैज्ञानिक इन कलाओं में अपनी-अपनी शक्ति लगा रहे हैं। यहाँ आप यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से कर सकते हैं कि यह तो किसी एक विशेप या विशिष्ट व्यक्ति की ही देन नहीं है, इनको बनाने के लिए अनेक व्यक्ति चाहिए। तो इस विपयपें आपको उनके जीवन पर चिन्तन करना है।

इस प्रकार के चिन्तन करने के लिए हमें ईश्वर की तीन स्थितियों पर दृष्टि रखनी होगी। एक सिद्ध ईश्वर, एक मुक्त ईश्वर और तीसरे वद्ध ईश्वर। इससंसार में यह सब जो रचना-प्रक्रिया चलती रहती है उसके मूल में वद्ध-ईश्वर के कर्तृत्व-भाव को ध्यान में रखना होगा। यह विवेचन अवश्य ही आपको कुछ जटिल प्रतीत हो सकता है। अतः मैं इसे आपको वालकों के खेल का रूपक प्रस्तुत करते हुए सरलता से समझाने का प्रयत्न करूँगा।

जो आत्मा सर्व सम्पन्न बन जाता है वह अपने समग्र विकारों से रहित हो जाता है। उसमें काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि नहीं होते। ऐसे ही विशेष आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा के रूप में परिणत होता है। वह अपनी अनन्त शक्तियों का प्रयोग इन छोटे-मोटे खिलौनों को बनाने में नहीं करता है इनके विषय में मैं आपको आगे चलकर विस्तार से बता दूंगा। किन्तु बालकों को तो आप प्रतिदिन देखते ही रहते हैं। बालक, अपने बचपन की स्थिति में, अनेक प्रकार के खिलौनों से खेलते हैं। वर्षा होने के बाद जब मिट्टी गीली हो जाती है तो उस गीली रेत में बालक अपनी-अपनी रुचि एवं सामर्थ्य के अनुसार मन्दिर-मकान बनाने का यत्न करते हैं। किन्तु दूसरे व्यक्ति जो कि ज्ञान और आयु में बड़े हो गए हैं, वे क्या करते हैं? वे तो इन बालकों की इस क्रिया पर हँसते हैं। खेल-खेल में बालक आपस में टकरा भी पड़ते हैं, और फिर कुछ ही क्षणों वाद वे फिर आपस में हिल-मिल जाते हैं। एक हो जाते हैं।

यह सम्पूर्ण दृश्य आप देखते हैं, किन्तु आप तटस्थ रहते हैं। आपका

कि महाराज ! हम मन में त्याग करलें, मन में त्याग आ जाना चाहिए, तब फिर प्रतिज्ञा करने क्यों खड़े हों ? वचन से त्याग क्यों करें ? मैं इस शंका का निवारण यह कहकर करना चाहूँगा कि मन से भी त्याग हो, परन्तु केवल मन से ही त्याग हो, ऐसा नहीं होना चाहिए । उसमें से 'ही' को निकाल कर 'भी' लगा लेना चाहिए । अर्थात् मन से प्रारम्भ करिए, वह तो परमावश्यक है ही, किन्तु मन में उठने वाले उस त्याग-भावना के प्रवाह को इतना प्रबल बनाओ कि वह वाणी के रूप में प्रगट हो जाए । और फिर इससे भी आगे यह प्रवाह इतना तीव्र बनना चाहिए कि वह काया के अणु-अणु में प्रवाहित हो जाए । क्योंकि यदि काया के अन्दर—हाथ-पैरों में वे संस्कार नहीं आए तो मन का त्याग केवल मन तक ही सीमित रह जाता है, जिसका कि कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता । दूसरे ही क्षण वह त्याग भूख के रूप में परिणत हो जाता है । वहाँ कोई बंदिश नहीं रहती । संवर की क्रिया के स्तर रूप में वह त्याग जुड़ता है तभी वह वास्तव में जीवन बनता है ।

कभी-कभी कोई मनुष्य ऐसा भी सोचता है कि त्याग करने से क्या लाभ, पाप अपने आप ही किसी दिन छूट जायगा । यदि मन में ज्ञान की मात्रा पर्याप्त होगी तो पाप क्रिया स्वतः छूट जायगी । इस विचार दें में मैं यह संशोधन दूंगा कि छूट जाना एक बात है, और स्वयं अपनी ओर से छोड़ देना दूसरी बात है । मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रक्रियाएँ करता है और वे छूटती भी रहती हैं । ऐसा प्रत्येक के साथ होता है । किन्तु स्वयं उन प्रक्रियाओं को छोड़ना बिरले ही लोगों के साथ होता है । त्याग प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता, किन्तु त्यागना तो प्रत्येक व्यक्ति को पड़ेगा ही ।

आज मनुष्य संवर के महत्त्व को समझ नहीं रहा है । वह संवर के रूप में क्रिया नहीं कर रहा है । इसीलिए वह शान्ति का अनुभव नहीं कर रहा है । वह समकित को नहीं जानता, संवर किसे कहते हैं और उसका जीवन में कितना महत्त्व है यह भी उसे पता नहीं । परिणामतः वह त्याग से कोसों दूर है ।

कौन नहीं जानता कि जीवन क्षणभंगुर है ? कौन नहीं जानता कि एक

न एक दिन इस जीवन का अन्त सुनिश्चित है ? किसे यह ज्ञात नहीं कि ये मकान, ये हवेलियाँ, ये परिवार आदि सब कुछ यहीं छूट जाने वाला है ?

कोई स्वीकार करे अथवा न करे, किन्तु सभी लोग यह जानते हैं। फिर भी कितने लोग हैं कि जो स्वयं अपनी ओर से इन्हे त्यागने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं ? बहुत कम, विरले ही लोग ऐसी तैयारी पहले से, अपनी ओर से करके रखते हैं।

किन्तु कोई छोड़ना चाहे अथवा न चाहे, उसे यह सब छोड़ना तो पड़ता ही है। परलोक को जब मनुष्य रवाना होता है तो परिवार, सम्पत्ति आदि सब यहीं छूट जाते हैं। अर्थात् इनका त्याग उसे करना पड़ता है। वह त्याग हो जाता है, वह त्याग अनिवार्य है। तो बंधुओ ! जो हो जाता है वह तो मुर्दे में, और जो किया जाता है वह जीवित में। अतः जानदार, जीवित, चैतन्य, प्रबुद्ध मनुष्य वही है जो स्वयं स्वेच्छा से, ज्ञानपूर्वक, प्रसन्नता से यह त्याग करता है। शेप व्यक्तियों की गिनती तो जानदार मनुष्यों में की जानी कठिन ही है।

आपके पास कोई वस्तु है। आप उसे अपने से दूर नहीं करना चाहते। उसका त्याग करने की तनिक भी भावना आपके मन में नहीं है। लेकिन कोई आप से अधिक समर्थ एवं बलवान व्यक्ति आप से वह वस्तु छीनकर ले जाता है। तब आप यदि ऐसा कहें कि आपने उस वस्तु का त्याग कर दिया, तो आपका यह कथन मिथ्या है. स्वयं को धोखा देना है। जब उस वस्तु को ग्रहण करने की आपकी तीव्र इच्छा थी, भावना थी, किन्तु जबरदस्ती वह आपसे छीन ली गई, तो वह त्याग नहीं है।

त्याग स्वेच्छा से होता है। **"इदं न मम"**—अर्थात्, 'यह मेरा नहीं'—इस प्रकार का संकल्प करके जो व्यक्ति किसी वस्तु का त्याग करता है तो वह सच्चा त्याग कहलाता है। अब वह त्याग चाहे किसी छोटी-सी वस्तु का ही हो, चाहे एक कोड़ी या दमड़ी का ही हो, किन्तु चूँकि उसके पीछे सच्ची त्याग भावना है, इसलिए ऐसा त्याग करने वाला व्यक्ति जीवन में आनन्द का अनुभव अवश्य करेगा। संवर पूर्वक, स्वेच्छा से किया गया ऐसा त्याग सचमुच परम सुखदायी होता है।

इसके विपरीत अनिच्छापूर्वक, रो-रो कर किए जाने वाले त्याग का कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। छूटना है, वह तो छूटेगा ही। छूटने की प्रक्रिया तो होनी ही है। पाप के जो कर्म बंधे हैं वे भी समय पाकर छूटेंगे ही, किन्तु संवर का आश्रय लेकर स्वेच्छा से शीघ्रातिशीघ्र उन पाप के संस्कारों को रोकने और नष्ट करने में ही मानव की विशेषता निहित है।

एक वृक्ष खड़ा है। समय आने पर वह एक दिन अवश्य ढह पड़ेगा। इसी प्रकार पाप के संस्कार भी एक दिन छूटेंगे। किन्तु इसमें विशेपता नहीं है। अपने इरादे से, प्रयत्न से, उन्हें छोड़ा जाय इसी में विशेषता है।

एक और बात यहाँ समझ लेनी चाहिए। जब भी त्याग का समय आए, तब त्याग तो करना ही है, किन्तु उसमें अभिमान की वृत्ति कदापि नहीं आने देना चाहिए। कभी भी ऐसा नहीं सोचना अथवा करना चाहिए कि मैंने यह त्याग किया। यदि ऐसा अहम् भाव आ गया तो मानना पड़ेगा कि एक भूत को घर से निकाला तो उसके स्थान पर दूसरा भूत आ गया।

मनुष्य के पास सम्पत्ति होती है, सत्ता भी होती है। तो उसमें यह अभिमान नहीं होना चाहिए कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, इतनी सत्ता है। अब वह व्यक्ति जब उसमें से कोई सम्पत्ति या सत्ता छोड़ता है, तो उस समय भी उसके मन में यह अभिमान नहीं आना चाहिए कि मैं इस सम्पत्ति या सत्ता का त्याग कर रहा हूँ। क्योंकि जो त्याग किया जा रहा है वह आत्मा के परिमार्जन के लिए संतोष तथा शान्ति प्राप्त करने के लिए ही किया जा रहा है। अब यदि वह त्याग करते हुए भी मन में अभिमान बना रहा तो उस व्यक्ति को सच्चा सन्तोष और शान्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकेगी।

हाँ, वस्तु के कथन की दृष्टि से कोई बात कही जा सकती है। किन्तु उसमें लक्ष्य वस्तु के कथन का ही होना चाहिए, न कि अपनी सम्पत्ति या सत्ता अथवा बड़प्पन को प्रगट करने का। यदि कोई व्यक्ति कोई त्याग करता है तो वह दूसरों को भी समझाने तथा शुभ कार्य में प्रेरित करने हेतु कह सकता कि भाई, मैंने ऐसा किया है, तुम भी ऐसा करो तो अच्छा होगा।

ऐसी बात निरहंकार रूप से, अन्य जन के हित की भावना से कहने में हानि नहीं है। किन्तु अहंकार एवं आत्मप्रदर्शन की भावना से कोई ऐसी बात कहना उचित नहीं है। आप बड़े हो सकते हैं, और त्याग कर सकते हैं, किन्तु अपने बड़प्पन और त्याग का प्रदर्शन दूसरों को नीचा दिखाने के लिए कभी मत करिए। ऐसा करना क्रिया में संवर सार की' भावना के विपरीत है।

एक रूपक आपके सामने प्रस्तुत करते हुए इस बात को और भी सरल रूप से समझाने का प्रयत्न करता हूँ। एक आदमी अपनी पीपी में असली गाय का घी लेना चाहता है। वह इस उद्देश्य से दूकानदार के पास पहुँचता है और असली घी की मांग करता है। दूकानदार वेजीटेवल घी नहीं रखता, हमेशा शुद्ध, असली घी ही रखता और बेचता है। वह पूछता है कि घी किस वर्तन में दूं ? तव खरीददार अपनी घासलेट की पीपी सामने करके कहता है कि लो मुझे घी इस पीपी में दे दो।

अव बेचारा दूकानदार सोचता है कि यह तो घासलेट की पीपी है। इसमें थोड़ा घासलेट भी है। यदि इसमें असली घी दे दिया जाय तो वह तो घासलेट के साथ मिलकर जहर बन जायगा। तब वह खरीददार से कहता है कि भाई इस पीपी में घी लेना हो तो पहले इसे घासलेट से खाली कर दो। वह आदमी घासलेट निकाल लेता है और पीपी फिर दूकानदार के सामने रख देता है। उस पीपी में घासलेट की वदवू अभी भरी हुई है। यह देखकर वह व्यापारी फिर कहता है—भाई, इसमें अभी घासलेट की वू भरी है। घी खराव हो जायगा। तुम्हें खाने में आनन्द नहीं आएगा, और मेरी दुकान की वदनामी होगी सो अलग। मैं हमेशा अच्छा घी वेचता हूँ, किन्तु तुम्हारी गन्दी पीपी के कारण मुझे व्यर्थ वदनाम होना पड़ेगा।

अव दुकानदार के यह सव वात स्पष्ट कर देने के वाद भी यदि खरीदने वाला उसी प्रकार की गन्दी पीपी में घी ले जाए तो दोप किसका ? दोष तो खरीदने वाले का ही रहेगा न ? क्योंकि व्यापारी ने कर्त्तव्य दृष्टि से सव वात यथास्थिति कह दी।

इस रूपक का अभिप्राय यह है कि शुद्ध घी लेना है और उसमें किसी प्रकार की वदवू नहीं चाहिए तो पीपी को साफ करना होगा, उसकी पहले की वदवू उड़ानी पड़ेगी। यदि एक व्यक्ति सत्ता और सम्पत्ति से युक्त रहे, पाँचों इन्द्रियों के भोगों में लिप्त रहे और भोगता हुआ सोचे कि मैं मन से त्यागी रहूँगा और मन से मोक्ष हो जायगा, तो क्या ऐसा होना संभव? वहाँ तो ऐसा ही होगा कि घासलेट की पीपी में घी ले रहा है। अव्वल तो उसमें घी आएगा ही नहीं, क्योंकि उसमें घासलेट भरा है, मान लो कि आ भी गया तो सब रापट-रोला हो जायगा, गुड़ गोवर हो जायगा।

हाँ, दुर्गुणों रूपी घासलेट को निकालकर फिर त्याग का शुद्ध घी लीजिए। इतना ही नहीं, उसमें से त्याग के अभिमान की घासलेटी बदबू भी निकालना आवश्यक है। यदि यह सम्पत्ति और सत्ता के त्याग की वदबू भी आपकी आत्मा रूपी पीपी में रह गई तो फिर 'संवर-सार' का घृत भी आपके लिए विष के ही समान रहेगा।

अत: त्याग के साथ-साथ अहंकार को भी हटा दीजिए। अहंकार को हटाए विना वदवू मिटने वाली नहीं है। संवर और क्रिया के विषय में सोचिए और सोच कर प्रण कीजिए। प्रण किये विना कोई भी वात चरितार्थ होने वाली नहीं है। यदि आपके मन में त्याग की सच्ची भावना है तो उसे मूर्त रूप दीजिए। प्रण कीजिए और उसका निर्वाह कीजिए। ऐसा प्रण सवके सामने कीजिए, उसमें कोई बुराई नहीं है। यदि आपके मन में अहंकार नहीं है, तो उससे दूसरों का हित ही होगा, दूसरों को उससे प्रेरणा मिलेगी।

किन्तु आप ऐसा कोई त्याग कर नहीं रहे हैं। सवके सामने ऐसा कोई प्रण ले नहीं रहे हैं। इसका क्या कारण है? कारण है—आपके हृदय की कमजोरी।

आखिर आप प्रतिज्ञा क्यों नहीं ले रहे हैं? इसीलिए न कि आप सोचते हैं कि यदि मैंने प्रतिज्ञा ले ली और वह भंग हो गई तो क्या होगा? इसका अर्थ यही है कि आपके मन में कमजोरी है, आपके संकल्प में दृढ़ता नहीं है

और दूसरे अर्थ में आप के मन में त्याग की वास्तविक भावना है ही नहीं। यदि त्याग की सच्ची और पक्की भावना हो, तो फिर प्रतिज्ञा करने में कोई हिचकिचाहट होनी ही नहीं चाहिए। आप प्रत्याख्यान नहीं ले रहे हैं, बाहर प्रण नहीं ले रहे हैं, तो आप में मानसिक कमजोरी व्याप्त हो रही है। जितनी मात्रा में यह कमजोरी है, उतनी मात्रा में यह कहा जा सकता है कि आप में से घासलेट की बदबू आ रही है, अभी आपका मन रूपी पात्र पूर्ण स्वच्छ नहीं हुआ है। यदि पूर्ण स्वच्छता होती तो आप सबके सामने त्याग करने की प्रतिज्ञा लेते।

व्यावहारिक क्रिया का एक उदाहरण आपको देता हूँ। अभी-अभी कुछ दिन पूर्व राजस्थान के मुख्यमन्त्री सुखाड़ियाजी ने मुख्यमन्त्री पद से त्याग पत्र दिया था। तो यदि वे केवल मन से ही सोच लेते कि मेरे मन में त्यागपत्र देने की भावना है, अब इसे जाहिर करने से क्या फायदा ? यदि वे अपने मन के इस दृढ़ संकल्प को अपने मन तक ही रखते और सोच बैठते कि मैंने त्याग-पत्र दे दिया, तो क्या इतना सोच लेना पर्याप्त होता ? क्या उनका त्यागपत्र वैधानिक माना जा सकता था ?

नहीं ! जनता कहती कि आप त्यागपत्र देना चाहते हैं तो लिखित रूप में क्यों नहीं देते ? यदि लिखित रूप में नहीं देते, तो इसका अर्थ है कि आपके मन में अभी मुख्यमन्त्री पद की लालसा बनी हुई है। अब चाहे वे कितनी भी शपथ खाकर यह कहते कि मैं त्यागपत्र देना चाहता हूँ तो कोई इस बात को स्वीकार नहीं करता। वह बात तो सत्य और स्वीकार्य तभी हुई जब उन्होंने वैधानिक रूप में लिखित त्यागपत्र प्रस्तुत किया।

इस पूरी प्रक्रिया को आप समझें। मन की बात को उन्होंने वाणी से उच्चारण किया और फिर उसकी क्रियान्विति के रूप में लिखित त्यागपत्र दिया। तभी वह त्यागपत्र स्वीकृत हुआ।

अतः इसे दूसरे रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि मन का कितना भी दृढ़ संकल्प हो, किन्तु विधिवत् प्रक्रिया जब तक नहीं होती है, तब तक वहाँ जीवन की स्थिति में त्याग नहीं होता है।

इसी बात को एक अन्य उदाहरण देकर भी आपके सामने स्पष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ, ताकि यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात आप लोगों को पूरी तरह से समझ में आ जाय।

देश में चुनाव होते हैं। राज्यों में विधान सभाएँ बन जाती हैं और केन्द्र में संसद का निर्माण हो जाता है, जिसके कि राज्य सभा तथा लोक सभा, ये दो सदन होते हैं। अब इन विधान सभाओं तथा संसद के प्रतिनिधि मिलकर राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। तो राष्ट्रपति का चुनाव पूर्ण जनतान्त्रिक प्रणाली से हो जाता है। इतनी प्रक्रिया पूर्ण हो गई। राष्ट्रपति जो चुने गये, उनका भी पूर्ण एवं शुद्ध संकल्प है कि मैं इस पद पर रहकर देश की सेवा करूँ। किन्तु इतने मात्र से वे राष्ट्रपति नहीं मान लिए जाते और उनके चुनाव की प्रक्रिया पूर्ण नहीं मान ली जाती. यद्यपि वे बाकायदा चुनकर इस पद पर आये हैं। पूर्णरूप से राष्ट्रपति पद का अधिकार और भार सम्हालने से पूर्व उन्हें सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा उस पद के कर्तव्य को निर्वाह करने हेतु शपथ दिलाई जाती है। जब यह शपथ सबके सामने ले ली जाती है तभी वे अन्तिम रूप से राष्ट्रपति माने जाते हैं। वह प्रक्रिया तभी पूर्ण मानी जाती है।

बन्धुओ ! जब अन्य व्यावहारिक क्षेत्रों में ऐसी स्थिति है, तब धार्मिक क्षेत्र में भी आप उस प्रक्रिया का पालन क्यों नहीं करते और ऐसा क्यों कहते हैं कि जो हो गया सो गया, हमको त्याग करने की आवश्यकता नहीं है, या हमें प्रतिज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है ?

वास्तविकता यह है कि यह आपके मन की कच्ची स्थिति है। यह कच्ची स्थिति समाप्त होनी चाहिए और आपके इरादों में मजबूती आनी चाहिए। आपके मन के संकल्प की क्रियान्विति आपके आचरण में होनी चाहिए। आपकी तमाम क्रियाओं में संवर आना चाहिए तथा नियमितता आनी चाहिए। इस विधि से आप आगे बढ़ेंगे तो परिवार, समाज तथा राष्ट्र का नाम उज्ज्वल करने वाले तेजस्वी पुरुष आप बन सकेंगे। ऐसा तभी सम्भव है जबकि आप संवर और क्रिया को साथ लेकर चलेंगे।

आज का संसार बहुत अशान्त है। मनुष्य को एक पल भी चैन और शान्ति नसीब नहीं है वह शान्ति के लिए इधर-उधर भटक तो रहा है, लेकिन यह जानता ही नहीं कि शान्ति किस प्रकार मिल सकती है ? मैं आपसे बार-बार कहता हूँ कि यह शान्ति त्याग के बिना कभी मिलने वाली नहीं है।

एक बन्दर कूदता-फाँदता एक हवेली की छत पर जा पहुँचा। वहाँ एक कुन्जा पड़ा हुआ था। कुन्जे का मुँह सँकड़ा था और पेट विशाल था। उसमें चने भरे हुए थे। बन्दर को चने खाने का चाव होता ही है, सो उसका लालच जागा और उसने उस कुन्जे में अपना हाथ डाल दिया और मुट्ठी में चने भर लिए। मुट्ठी भर जाने के कारण वह बँधी हुई मुट्ठी कुन्जे के सँकड़े मुँह में से बाहर नहीं आ सकती थी।

वह बन्दर बेचैन हो गया। न तो वह लालची चने छोड़ सकता था और न चने से भरा हुआ हाथ कुन्जे से बाहर आ सकता था। वह चिल्लाने लगा। किन्तु चिल्लाने से क्या होने वाला था ? वह अपने तरीके से कहता था कि कुन्जे ने उसे पकड़ लिया है।

आप उस बन्दर की मूर्खता पर अवश्य हँसेंगे। किन्तु यदि मैं आपको बताऊँ कि बहुत कुछ उस बन्दर जैसी स्थिति ही आजकल बहुत से मनुष्यों की भी है तो आपको आश्चर्य हो सकता है। लेकिन यह बात सत्य है। जिस प्रकार से बन्दर का यह कहना मूर्खता है कि कुन्जे ने मेरी मुट्ठी को पकड़ लिया है, उसी प्रकार मनुष्य का यह कहना कि संसार ने मुझे बाँध रखा है, निरा पागलपन ही है। बन्दर कहता है कि मैं चने तो नहीं छोड़ूँगा। तो फिर यदि चने नहीं छोड़ने हैं तो मुट्ठी भी कुन्जे से मुक्त होने वाली नहीं है। इसी प्रकार हम कहते हैं कि भाई, शान्ति चाहते हो तो त्याग करो। बिना त्याग किये शान्ति नहीं मिल सकती। तब आप कहते हैं कि महाराज ! यह तो हमारे वश का नहीं। हम अपने परिवार, सम्पत्ति, सत्ता आदि को तो नहीं छोड़ सकते। तब यदि आप इन्हें नहीं छोड़ सकते तो उस बन्दर के समान जकड़े रहिए और कुन्जे को दोष देते हुए शान्ति-शान्ति चिल्लाते रहिए, लेकिन आपको शान्ति तो नहीं मिल सकती।

एक व्यक्ति चिल्लाता है कि अरे, दौड़ो, दौड़ो, थम्भे ने मुझको पकड़ लिया है। भला सोचिए और बताइये कि थम्भा किसी को कैसे पकड़ सकता है ? आदमी थम्भे को पकड़ेगा या थम्भा आदमी को ?

अतः बन्धुओ ! वस्तुस्थिति को समझिए और उसके अनुसार आचरण करने का प्रयास कीजिए। आप भोजन के लिए बैठे। गरम, मधुर और नरम हलुवे का निवाला आपने हाथ में लिया। अब आपने उसे हाथ में लिया है उसे मुँह में लेने के लिए। किन्तु यदि आपका हाथ उस मधुर हलुवे को पकड़े बैठा रहे तो क्या वह शान्ति का अनुभव करेगा अथवा अशान्ति का ? वह तो अशान्ति का ही अनुभव करेगा क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं रह सकेगा। हाथ की स्वतन्त्रता तभी रह सकेगी जब कि वह हलुवे का त्याग मुंह के लिए करेगा।

इसके पश्चात् मुँह सोचे कि ऐसे मीठे, मुलायम हलुवे का त्याग मैं क्यों करूँ, और वह उसे अपने में ही पकड़े रखे तो क्या होगा ? वह भी अपंग हो जायगा, बोल भी नहीं सकेगा। तो वह मुख भी इतनी भूल नहीं करता है और हलुवे का स्वाद लेकर उसे पेट के हवाले कर देता है।

अब यदि पेट यह सोचे कि इतने बढ़िया हलुवे को तो मैं कभी नहीं छोड़ूंगा तो पेट की क्या हालत होगी ? और जो पेट की हालत होगी वही सारे शरीर की भी हो जायगी। पेट जब तक मल भाग को बाहर नहीं निकालेगा, उसका त्याग नहीं करेगा तथा शेष भाग को सारे शरीर में वितरित नहीं करेगा तब तक उसे शान्ति का अनुभव नहीं होगा।

अतः बन्धुओ ! त्याग से—संवर से रहित जो खाने का योग है वह भी दुखदायी होता है। इसलिए त्याग के महत्व को समझिए और स्वयं कर्ता बनकर त्याग की ओर बढ़िए। यदि आप ऐसा करेंगे तो सारी विषमताएँ मिट जायँगी और आपको शान्ति का सोपान प्राप्त होगा। अन्यथा त्याग के अभाव में तो जीवन में अशान्ति ही अशान्ति है।

एक भाई ने सूचना दी है कि सरकार शीघ्र ही एक ऐसा कानून ला रही है जिससे कि जिस व्यक्ति के पास उसकी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति अथवा भूमि है, उसे सरकार विना कोई मुआवजा दिए राष्ट्र के हित में अपने कब्जे में कर लेगी। तो यदि ऐसा कानून आ जाता है तो अन्य व्यक्तियों की भी ठीक वही स्थिति हो जाती है जैसी कि राजाओं या जागीरदारों की हुई है। अब ऐसी परिस्थिति में यदि जबरदस्ती यह त्याग करना पड़ा तो फिर क्या वह त्याग कहलाएगा ? नहीं ! वह तो देना ही पड़ेगा, छोड़ना ही पड़ेगा, त्यागना ही पड़ेगा। अतः हमें दीर्घदृष्टि से सोच-विचार कर चलना चाहिए और त्याग करने की शान्ति और सन्तोष को प्राप्त करने का सुअवसर हाथ से नहीं निकल जाने देना चाहिए।

आज मनुष्य त्याग के स्थान पर ग्रहण करने एवं संचय करने की वृत्ति लिए हुए चारों ओर हाय-हाय करता फिर रहा है। सम्पत्ति और सत्ता के भूले में वह दीवाना बनकर झूल रहा है। वह संवर के सार के तरीके को न अपनाकर भोग-विलास में डूबा हुआ है। वह यह विचार एक क्षण के लिए भी नहीं करता कि ये संसार के प्रपंच, ये हाट-हवेली इत्यादि सब यहीं रह जाने वाले हैं। आत्मा के साथ जाने वाले सन्तोष और शान्ति की ओर से उसकी आँखें बन्द हैं।

आचार्य श्री जी महाराज दिल्ली पधारे। एक दिन प्रातःकाल वे दैनिक कार्यों से निपटने के लिए लाल किले की ओर जा रहे थे। लाल किला भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके तीन कोट हैं और चारों ओर विशाल खाइयां हैं। आचार्य महाराज सोच रहे थे कि इस लालकिले को वनवाने वाले महाप्रतापी, महासमर्थ सत्ताधीश सोचते थे कि यह किला अजेय है, इसकी सीमाओं में कभी कोई शत्रु प्रवेश कर ही नहीं सकता। इस विशाल और अजेय किले में उनकी सन्तानें सुखपूर्वक चिरकाल तक निवास करेंगी और उन्हीं के समान शासन करती रहेंगी।

किन्तु वन्धुओ ! आप जानते हैं कि वे लालकिले को वनवाने वाले शाहंशाह भी चले गए और उनकी औलादों का भी पता नहीं कि वे किस

ज्ञान चूँकि उन बालकों के ज्ञान से अधिक विस्तृत है, अतः आप किसी पक्ष अथवा विपक्ष में नहीं उतरते। अस्तु, जिस प्रकार उन छोटे बालकों का खिलौने तथा रेत के मकान बनाने का दृश्य होता है ठीक उसी प्रकार से उन बालकों जैसी ही दृष्टि रखने वाले जो आत्मा इस विश्व में मौजूद हैं, वे आत्मा बद्ध ईश्वर के रूप में ही हैं। उन्हीं के द्वारा इस संसार में यह निर्माण एवं विनाश की प्रक्रिया चलती रहती है। जैसे-जैसे आत्मा विकास के पथ पर अग्रसर होता चलता है, उसी परिमाण में उसमें तटस्थता का भाव आता चलता है तथा कर्त्तृत्ववृत्ति क्षीण होती जाती है। एक कारीगर में राग की स्थिति रहती है, वह मकान बनाता है। किन्तु विश्व के सारे तत्व जब बद्ध ईश्वर के पूर्ण शुद्ध स्वरूप को, समग्ररूप को विकसित कर लेते हैं तो राग-द्वेष की भावना समाप्त हो जाती है। तब वे तटस्थता के रूप में रहते हैं। उनमें ये सारे दृश्य-पदार्थ बनाने की, कुम्भकार अथवा कारीगर की दृष्टि नहीं रहती है।

कारीगर के समान जहाँ थोड़ी-सी राग की स्थिति है, वहाँ सांसारिक वस्तुओं के संग्रह अथवा निर्माण की भावना एवं इच्छा होती है। आप अपने ही विषय में सोचिए। आप गृहस्थ हैं, परिवार वाले हैं। अपने परिवार में आपको राग है तो आप अपने परिवार के रक्षण हेतु मकान बनाते हैं। कोई छोटा मकान बनाता है, कोई बड़ा मकान बनाता है। किन्तु जिनके कोई परिवार नहीं है, अर्थात् जिनके हृदय से परिवार का राग समाप्त हो चुका है, वे लोग क्या मकान बनाते हैं? ये सन्त-सती यहाँ विराजमान हैं। ये सन्त-सती मकान बनाते हैं क्या? ऐसे ही अन्य कार्य ये करते हैं क्या? आप जानते हैं सन्तों के कोई परिवार और महल-मकान नहीं होते। वे तो अनगार हैं। उन्हें मकान और मकान के राग से क्या प्रयोजन? जिस मकान में जन्म लिया, जिस परिवार में जीवन आरम्भ हुआ, उसे भी त्यागकर ये तो आगे बढ़ गए। इन साधु-साध्वियों ने मकान और परिवार के राग और मोह को पार कर लिया तथा समस्त आत्माओं को अपना समझकर स्वार्थ की दृष्टि को समाप्त करके, गृहस्थाश्रम की संकीर्ण सीमाओं को लांघकर ये तो आगे बढ़ आए हैं। मकान, परिवार और सम्पूर्ण गृहस्थाश्रम की बद्धता से ये मुक्त

झोंपड़ी या छप्पर में आज निवास कर रहे हैं। अनेकों लोग उस किले में प्रविष्ट हो चुके और अनेकों शत्रुओं ने उस किले का भेदन अनेक बार कर दिया।

अत: विचार करने की बात यही है कि कोई भी व्यक्ति अथवा उसकी सन्तानें स्थायी रूप से किसी भी एक स्थान पर कभी रहने वाली नहीं है। ऐसा न कभी हुआ है और न होगा। जब यह स्थिति है और सूर्य के प्रकाश की भाँति उजागर है तब मनुष्य को चाहिए कि वह सत्य को पहिचाने, उसे स्वीकार करे तथा अपनी आत्मा के कल्याण के लिए भोग-मार्ग का त्याग करके सुख प्रदान करने वाले त्याग-मार्ग पर आगे बढ़े।

लेकिन मनुष्य की तो मानो मति ही फिर गई है। वह तो उल्टे ही मार्ग पर बेतहाशा दौड़ा चला जा रहा है। समाज की सारी व्यवस्था ही उल्टी हो गई है। सारा वातावरण ही विपाक्त हो गया है। शिक्षा का बहुत ढिढोरा आज पीटा जा रहा है। घोषणाएँ होती हैं कि देश में किसी को अशिक्षित नहीं रहने दिया जायगा। रोज नए-नए स्कूल और कॉलेज खोले जाते हैं। किन्तु मैं कहता हूँ कि जब तक हमने अपना लक्ष्य ही गलत निर्धारित किया हुआ है, तब तक इन सारे प्रयत्नों का परिणाम उल्टा ही नहीं मिलेगा तो क्या होगा ?

मैं शिक्षा का विरोधी नहीं हूँ। भला कोई भी व्यक्ति शिक्षा का विरोध कैसे कर सकता है ? लेकिन यह तो देखना ही पड़ेगा कि शिक्षा जो दी जा रही है वह मनुष्य के, समाज के, मानवता के हित में है अथवा अहित में ? आज स्कूलों और कॉलेजों का वातावरण कैसा है ? वहाँ क्या शिक्षा दी जा रही है ? वहाँ से पढ़कर, शिक्षित होकर निकलने वाले छात्र-छात्राएँ क्या योग्यता लेकर बाहर आ रहे हैं ? जिस प्रकार की योग्यता लेकर वे हमारे समाज में आ रहे हैं उसका एक उदाहरण देखिए—

एक महिला कॉलेज से शिक्षित होकर निकली। वहां उसने नृत्य करना सीख लिया था। बाहर आकर अब उसे नृत्य करने और जीवन का आनन्द

लेने की कामना जागी। ऐसा करने के लिए उसे पैसे की आवश्यकता थी। तो पैसा कमाना, ईमानदारी का पैसा कमाना तो कोई आसान काम है नहीं। उसके लिए दिन-रात, सुबह-शाम, ऐड़ी-चोटी का पसीना बहाना पड़ता है। किन्तु उस महिला को, जो कि आजकल की शिक्षा पद्धति से शिक्षित होकर आई थी, न मेहनत करती थी और न ईमानदारी की कोई चिन्ता थी। उसे तो केवल पैसा चाहिए था।

अत: उसने अपनी नृत्य-कला के सहारे सिनेमा आदि में जाकर पैसा कमाने की आधुनिक विद्या सीख ली। यह नई विद्या सीखकर उसने स्वयं को बड़े ठाट-बाट से सजाया, सुन्दर वस्त्र पहने और अप-टू-डेट मेमसाहब बनकर एक अस्पताल में पहुँची।

अस्पताल में वह डॉक्टर से मिलना चाहती थी। मरीजों की भीड़ थी। चपरासी ने कहा—मेम साहब, लाइन में अपने नम्बर से आइये। तब मेम साहब ने अपने पर्स से एक पाँच रुपये का नोट निकाला और चपरासी की मुट्ठी में थमा दिया। बस नई विद्या ने काम दिखाया। चपरासी ने तुरन्त उसे अन्दर भेज दिया।

अब देवी जी डॉक्टर के पास पहुँचीं। डॉक्टर ने उनकी शान-बान और सजावट देखकर सोचा कि ये किसी बड़े घर की महिला हैं। तो अन्य सब मरीजों को हटाकर वे उनकी सेवा में हाजिर हो गये और पूछा—'कहिए श्रीमती जी ! मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

देवी जी ने कहा—"डाक्टर साहब ! मैं बहुत आवश्यक कार्य से आपके पास आई हूँ। मेरे पति का इलाज करना है। आपकी बड़ी प्रशंसा सुनकर आपके पास आई हूँ, अब आपका ही सहारा है।"

कुछ तो अपनी प्रशंसा सुनकर, और कुछ देवीजी के रूप-यौवन तथा ठाट-बाट से प्रभावित होकर बड़े डॉक्टर साहब एक दम विचलित हो गये और बोले—"कहिए ! मुझे क्या करना है ? आपके पति को क्या हो गया है ?"

देवी जी ने चुपचाप पचास रुपये के नोट डॉक्टर के हाथ में दे दिए, जिन्हें डॉक्टर ने उसी प्रकार चुपचाप अपनी जेब के हवाले कर लिया, और बोली—"मेरे पतिदेव को एक मर्ज यह है कि उन्हें समय-समय पर पागलपन सवार हो जाता है और वे मुझसे कहते हैं कि लाओ रुपये, लाओ रुपये। अब डॉक्टर साहब आप बताइये कि मैं कहाँ से लाऊँ इतने रुपये ? मैं बड़ी दुःखी हो रही हूँ। कृपया मेरे पतिदेव का इलाज आप कर दीजिए। ये पचास रुपये जो मैंने आपको दिये इन्हें तो आप भूल जाइये। आपकी फीस मैं इलाज के बाद पूरी दे दूंगी, आप चिन्ता न करें, किन्तु मेरे पति का इलाज आप अवश्य कर दीजिए।'

डॉक्टर साहब मान गए। देवी जी ने कहा—'डॉक्टर साहब ! जब मैं अपने पतिदेव को यहाँ लेकर आऊँ तब मुझे कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। और आप एक बात का और भी ध्यान रखें कि मेरे पतिदेव को तो पागलपन सवार होता रहता है। वे तो आपके पास भी आकर यही रट लगाएँगे कि लाओ रुपये, लाओ रुपये। तो आप उनका इलाज करके, उन्हें देखकर, उन्हें पचास रुपये दे दीजिएगा ताकि उनका रोग अधिक न बढ़े।'

ऐसा कहकर देवी जी ने पचास रुपये डॉक्टर को और दे दिये। डॉक्टर ने कहा—'सब ठीक है मैं समझ गया। आप कोई चिन्ता न करें। मैं आपके पति का इलाज कर दूंगा।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने चपरासी से कहा—'देखोजी, ये देवी जी अपने पति को लेकर आएँगी। उनके साथ कोई रोक-टोक मत करना।'

इतनी व्यवस्था करके वह महिला सीधी अपने घर गई और एक बढ़िया सा तांगा किराए पर लेकर बाजार में उस स्थान पर गई जहाँ पर बड़े-बड़े जौहरियों की दुकानें थीं। हाथ में शानदार पर्स लटकाए, सजी-धजी, देवी जी एक बड़े जौहरी की दूकान में गई। दूकान के मालिक ने समझा किसी बड़े रईस घराने की कोई महिला जवाहरात खरीदने आई है सो उसने बड़े तपाक से उसका स्वागत किया और अनेक प्रकार के मूल्यवान आभूषण उसे दिखाने लगा। देवी जी ने उनमें से बहुत से अच्छे-अच्छे अपनी पसन्द के

आभूषण लिए। वे कुल पचास हजार रुपयों के हुए। देवी ने जौहरी से कहा---'ये आभूषण मैं खरीद रही हूँ। आप अपने मुनीम जी को मेरे साथ भेज दीजिए। मेरे पति अस्पताल में बड़े डॉक्टर हैं। वहाँ चलकर मुनीम जी रुपये ले लेंगे।

जौहरी ने मुनीम जी को आदेश दिया और मुनीम जी महिला के साथ वे आभूषण लेकर चल पड़े। महिला ने आभूषण बैग में रख लिए। वे लोग सीधे अस्पताल पहुँचे। वहाँ पहुँच कर देवी जी सीधी डॉ० के पास पहुँची और बोली—डॉक्टर साहब ! मैं अपने पति को ले आई हूँ। कृपया उनकी जाँच कर लीजिए। डॉक्टर ने पूछा—'वे कहाँ हैं ?' महिला ने कहा—बाहर खड़े हैं।

डॉक्टर ने चपरासी को भेजकर मुनीम जी को भीतर बुलाया। महिला भीतर चली गई मुनीम बेचारे ने सोचा कि देवी जी अपने डॉक्टर-पति से मुझे रुपये देने के लिए कह दिया होगा। वे भीतर गए।

अब तमाशा आरम्भ हुआ। मुनीम के आते ही डॉक्टर साहब ने अपने औजार सम्हाले। एक यंत्र वे मुनीम जी के मस्तिष्क पर फिट करने लगे। मुनीम बेचारा घबराया और बोला—'अरे, अरे', डॉक्टर साहब, यह क्या करते हैं ? लाओ रुपये जल्दी से, मैं खोटी हो रहा हूँ।'

डॉक्टर ने सोचा कि इसे पागलपन का दौरा चढ़ गया। तो वह जल्दी जल्दी उसकी जाँच करने का प्रयत्न करने लगे। उधर मुनीम बेचारा चिल्लाने लगा—लाओ रुपये, लाओ रुपये। बड़ी गड़बड़ हुई। डॉक्टर मुनीम जी का निरीक्षण करना चाहता था और मुनीम जी बोले—'डॉक्टर साहब ! मुझे पचास हजार रुपये दीजिए जल्दी से ओर यह बकवास बन्द कीजिए।' यह सुनकर डॉक्टर उसे पचास रुपये देने लगा तो मुनीम ने कहा—'पचास रुपयों से क्या होगा ? आपकी पत्नी ने पचास हजार रुपयों के आभूषण मेरी दुकान से खरीदे हैं। भरोसा न हो तो पूछ लीजिए उनसे.........।'

यह सब बात सुनकर डॉक्टर का माथा ठनका। उसने पूछा—'क्या बात

है जी ? आपको तो पागलपन का दौरा आता है। आपकी पत्नी ऐसा ही कह रही थीं।' मुनीम ने कहा—'कौन-सी पत्नी ? अजी महाराज, मैं तो फलाँ दुकान का मुनीम हूँ। आपकी पत्नी ने अभी पचास हजार के ज़ेवर खरीदे हैं। मुझे रुपये दीजिए।' तब डॉक्टर ने कहा—'कौन-सी पत्नी ? कैसे रुपये ? वह औरत तो कहती थी आप उसके पति हैं और आपको पागलपन का दौरा आता है ....।'

'कैसा पागलपन ? अरे डॉक्टर साहब। मालूम पड़ता है कि हम दोनों को पागल बनाकर वह औरत चकमा दे गई। दौड़ो-दौड़ो उसे पकड़ो, पुलिस में रिपोर्ट करो—अरे हम लुट गए रे ....।"

सत्य ही वह जौहरी लुट चुका था, डॉक्टर बेवकूफ बन चुका था और चिड़िया उड़ गई थी।

तो बन्धुओ ! आप देखिए कि इन विषयों को ग्रहण करने वाली और आधुनिक शिक्षा को प्राप्त करने वाली हमारी बहिनें भी चारित्रिक पतन के किस गर्त में पड़ जाती हैं।

यदि इस पतन के प्रवाह को रोकना है तो हमारे जीवन में त्यागपूर्वक संवर आना चाहिए। संवर की स्थिति से चलने से जीवन में समानता आती है। शान्ति-सोपान को प्राप्त करने का यही एक मात्र मार्ग है।

—इत्यलम् !

९ | क्रिया और संवर

"असंखयं जीविय मा पमायए.............।"

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती....... .....।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण हुआ है। इन कड़ियों के सहारे हम अपने जीवन की उलझी हुई कड़ियों को सुलझाने का प्रयत्न करें। हमारा वर्तमान जीवन अशान्ति के झंझावातों से घिरा हुआ है और इन भीषण झंझावातों ने हमारे अस्तित्व को बुरी तरह झकझोर कर रख दिया है। जीवन में चारों ओर विषम परिस्थितियाँ घिरी हुई हैं जो हमारे जीवन को अशान्त और दुःखमय बनाए हुए हैं। मनुष्य इन विषम परिस्थितियों को हटाने का प्रयत्न कर रहा है और सोचता है कि मैं एक धक्का लगाकर इन सारी विकट-विषम स्थितियों को अपने से दूर हटादूं। मनुष्य के लिए ऐसी आकांक्षा करना स्वाभाविक ही है।

किन्तु बन्धुओ ! स्थूल तत्त्व बाहर की परिस्थितियों से हट सकते हैं, लेकिन जहाँ सूक्ष्म स्थिति का प्रसंग हो वहाँ किसी भी सूक्ष्म शक्ति का विश्लेषण एवं निवारण सूक्ष्म शक्ति द्वारा ही किया जा सकता है। मनुष्य का जीवन कोई ऊपर से दिखाई देने वाला ढेला अथवा पिण्ड ही नहीं है। यह जो मनुष्याकृति दिखाई देती है, काया और उसका एक आकार दिखाई देता है, जीवन केवल वही और उतना ही नहीं है। वास्तविक मानव-जीवन तो इसके भीतर है, सूक्ष्म है।

इस भीतरी और यथार्थ मानव-जीवन के महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर ही विचार करना चाहिए। यदि ऐसा किया जाए तो मानव की वर्तमान स्थिति, भूत-

कालीन परिस्थिति एवं भविष्य के उज्ज्वल विकास को अपने भीतर देखा जा सकता है। भीतर की साधना को तीव्र बनाने के लिए परमात्मा के स्वरूप को व्यक्त करना पड़ता है। प्रभु के विशाल एवं विराट् जीवन को यदि हम अपने सामने रखें—और वैसी ही खोज अपने भीतर करने में जुट पड़ें तो हमारा जीवन भी उस चरम शान्ति के बिन्दु तक पहुँच सकता है। इस दृष्टि से कवि ने संकेत दिया है कि—हे भगवन्! मैं शान्ति के स्वरूप को कैसे समझूं? मैं अपने मन का परीक्षण किस प्रकार करूँ? इन दोनों तत्वों के लिए शास्त्रीय दृष्टिकोण भी आपके सामने आ रहा है। यदि प्रार्थना की कड़ियों का जो सम्बन्ध जोड़ रहे हैं, वह सम्बन्ध हम अन्दर से जोड़ लें तथा शास्त्रों के अन्तरंग का अर्थ भी अपने जीवन में उतार लें तो हम जीवन की गहराइयों तक उतर सकते हैं। इसीलिए उस गहराई में पहुँचाने वाले की आवश्यकता है। इसके लिए भगवान ने निर्देश दिया है—

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा.............।"

इस गाथा का अर्थ आपके सामने चल रहा है। इस गाथा में आए हुए शब्दों का अर्थ हम केवल वाचन-दृष्टि से ही न करें। उसके अर्थ को केवल कानों से ही सुनकर वहीं तक सीमित न करें, बल्कि उसे अन्त करण के कर्णों से सुनें, अन्तःकरण की जिह्वा से उसे व्यक्त करें तथा अन्तर के स्वरूप में परिणत करदें। यदि यह प्रक्रिया इस शरीर में आत्मा ही बन जाय तो फिर शान्ति का जो दूसरा सोपान आपके सामने रखा जा रहा है—या उसे शान्ति की दूसरी सीढ़ी कह दीजिए—अथवा और भी बड़े रूप में कहें तो शान्ति की दूसरी मंजिल—उस पर हम पहुँच सकते हैं।

मूल गाथा की जो वाक्यावलि है उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना की कड़ियों में शक्ति है। वह गुरु जो हमें अन्तर तक पहुँचाता है वह कैसा हो? तो इसके लिए निर्देश है कि—

"आगमधर गुरु समकिती ....।"

ऐसा गुरु क्रिया और संवर का स्रोत हो। क्रिया और संवर की व्याख्या

थोड़े शब्दों में कल आपके सामने आ चुकी है। पाप का विरोध करने के लिए संवर की आवश्यकता है। पाप दो प्रकार से मनुष्य के जीवन में प्रवेश करता है। एक तो आवश्यकतानुसार जरूरी कार्य करते हुए लाचारीवश पाप की प्रवृत्ति बनती हैं और दूसरे फिजूल, विना प्रयोजन के पाप का सम्बन्ध आत्मा के साथ जुड़ता है। गृहस्थ अवस्था में रहनेवाले व्यक्ति के लिए पारिवारिक जीवन की जिम्मेदारी होने के कारण वह गृहस्थ कतिपय सूक्ष्म पाप की प्रक्रियाओं का त्याग नहीं कर सकता है। वह उसमें संवर का समावेश नहीं कर पाता है। किन्तु अनावश्यक—अनर्थ दण्ड, जिसका जीवन में कोई प्रयोजन नहीं—ऐसे अनर्थ दण्ड का परित्याग तो मनुष्य चाहे तो कर सकता है। वह अनर्थ दण्ड क्या है, यह व्यर्थ का, निष्प्रयोजन पाप जो अपने सिर पर लाद लेना है, सो कैसे है और वह किस प्रकार त्यागा जा सकता है इस बारे में आपको जान लेना चाहिए।

इस समय आप इस सभास्थल पर बैठे हुए हैं। यह धार्मिक स्थल है, पवित्र स्थान है, शान्त भूमि है। इस स्थान पर आप व्याख्यान की समाप्ति तक बैठते हैं। किन्तु ऐसे शान्त और पवित्र स्थल पर भी आप अपने पाप के दरवाजों को खुला रखकर बैठते हैं। भला सोचिए कि जितने समय तक आप यहाँ बैठते हैं—उतने समय तक के लिए भी यदि पापों पर प्रतिबन्ध लगादें तो उसमें क्या बाधा आ सकती है ? कोई भी बाधा नहीं आने वाली है। न आपके खाने-पीने में बाधा आ सकती है, न आपका व्यापार रुक सकता है और न ही परिवार सम्बन्धी कोई बाधा आ सकती है। केवल थोड़ी सी चावी मरोड़ने की आवश्यकता है, अर्थात्, थोड़ा सा अपने मन पर अधिकार रखने, मन को केन्द्रित और संयमित रखने की आवश्यकता है।

मनुष्य को जब प्रकाश की आवश्यकता होती है तो वह बटन को दबाकर प्रकाश प्राप्त कर सकता है और जब वह आवश्यकता न हो तब उसी विजली के बटन को बन्द करके प्रकाश को भी बन्द कर सकता है। उसी प्रकार आप व्याख्यान के समय तो अपने पाप के दरवाजों को बन्द करके बैठ ही सकते

हैं। यदि आप ऐसा करते हैं—तो वह व्यर्थ का पाप रुक जाता है और संवर हो जाता है। इस प्रकार आप सन्नद्ध हो जाते हैं तथा अपने जीवन के लिए कतिपय ऐसे नियम ले सकते हैं—जिनका आपके वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं, फिर भी व्यर्थ के पाप-संग्रह से बचा जा सकता है।

सोचिए, क्या आप इस समय अमेरिका से कुछ खाना मँगवाकर खा रहे हैं ? या रूस के किसी होटल में जा रहे हैं ? नहीं, आप विलायत में कहीं नहीं जा रहे हैं। आप इसी देश में, पवित्र भारत देश में, इस पुण्य धर्म-स्थान पर ही बैठे हैं और धर्मोपदेश सुन रहे हैं, किन्तु फिर भी आप उन वस्तुओं का त्याग नहीं करते जिनका कि इस स्थान पर कोई प्रयोजन नहीं और जो व्यर्थ ही आपके लिए पापबन्ध का कारण बन रही हैं। आप पूछेंगे कि यह पाप कैसे लगा ? तो मैं उसका लम्बा विश्लेषण इसीलिए नहीं कर रहा हूँ, उतना समय आज नहीं है, किन्तु संक्षेप में उसका निर्देश अवश्य करूँगा।

मान लीजिए एक व्यक्ति नंगी तलवार लेकर द्वार पर खड़ा हुआ है। वह कहता है कि मैं मनुष्य की गर्दन को उड़ाने के लिए आया हूँ। अब कहिए कि यह बात सुनकर कितने लोगों को भय होगा ? एक को, दो को या सबको भय होगा ? और मान लीजिए कि कदाचित् वह व्यक्ति जिसके हाथ में नंगी तलवार है ऐसा भी बोले कि—'मैं एक आदमी का सिर उड़ाऊँगा।' फिर भी शान्ति कितनों को मिलेगी ? क्या एक व्यक्ति को छोड़कर शेष सबको शान्ति मिल जायगी ? नहीं मिलेगी। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इस भय से आक्रान्त रहेगा कि क्या मालूम यह मेरा ही सिर उड़ादे ? न मालूम किसका नम्बर आ जाय ? अतः ऐसी वाणी सुनकर सबके मन में भय होता है, सबको दुःख होता है।

किन्तु मान लीजिए कि वह नंगी तलवार वाला व्यक्ति इस प्रकार से बोलता है कि—'मैं' गुजराती भाइयों के साथ ऐसा बर्ताव करूँगा। तो मालवा, मेवाड़, मारवाड़ आदि अन्य प्रान्तों के लोग तो निर्भय हो जायेंगे। वे सोचेंगे कि चलो हम तो बचे। इसी प्रकार यदि वह व्यक्ति गुजरातियों में से भी किसी एक विशिष्ट जाति या उससे भी आगे विशिष्ट व्यक्ति का ही

नाम लेकर कह देता है कि मैं फलां व्यक्ति को मारूँगा तो उस व्यक्ति विशेष के अतिरिक्त शेष सभी लोग निर्भय हो जाते हैं। तो वह निर्भयता जिस प्रकार से सबके लिए हितावह है उसी प्रकार गृहस्थ में रहने वाले व्यक्ति अपने मन, वचन और काया से खुले रहते हैं। अब वह न मालूम किस प्राणी पर प्रहार कर सकता है ? उसके उन खुले शस्त्रों को देखकर जगत के सभी प्राणी भयभीत होते हैं। भयभीत होकर वे चुप नहीं रहते हैं। उनकी प्रतिक्रियाएँ मनुष्य के ऊपर होती रहती हैं। आघात का प्रत्याघात होता रहता है। ध्वनि की प्रतिध्वनि होती रहती है।

एक आदमी किसी निर्बल को सताने की चेष्टा कर सकता है। किन्तु वह सताया जाने वाला व्यक्ति भी सोचता है कि मुझ पर यह आघात कर रहा है तो मैं भी मुझसे बने उतना प्रत्याघात करूँ। प्रत्येक संसारी मनुष्य की यह भावना रहती है। और वह अपने मन के अन्दर अपनी जो भी शक्ति है उसे संचित करता है। बदले की भावना के विषाक्त परमाणु उसके हृदय से विकीर्ण होते हैं। तो बलवान आदमी को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि वह हमेशा ही बलवान बना रहेगा और कमजोर को सताता रहेगा। उसे इस स्थिति से नहीं चलना चाहिए। सताये जाने वाले व्यक्ति की प्रतिक्रिया भी उसके साथ लम्बी हो जाती है। मानसिक द्वेष का प्रभाव मन पर, वचनों का प्रभाव वचन तक और काया का असर काया तक रहता है। उनकी ये भीतरी प्रक्रियाएँ एक दूसरे तक चलती रहती हैं।

इन स्थितियों को हमें समझना चाहिए। यदि मनुष्य यह समझ लें और कम से कम उन प्राणियों को अभयदान दे दें, कि जो पदार्थ प्रयोजन में नहीं आ रहे हैं तो इसमें उसकी क्या हानि हो ? अनावश्यक रूप से पाप बंध करने का आखिर क्या लाभ है ? जितने साधन आवश्यक रूप से प्रयोजन में आ रहे हैं उन्हें खुले रखकर शेष सारी प्रक्रियाओं की रुकावट कर देना तो सर्वथा उचित ही है। इसमें कोई हानि नहीं है। उल्टे लाभ ही है। तो जो व्यक्ति ऐसा करें उन्हें शान्ति का दूसरा सोपान मिल सकता है।

संवर की क्रिया करना गृहस्थ के लिए भी आवश्यक है। किन्तु जो घर में रहता है उसके लिए संवर की क्रिया तो नितान्त रूप से आवश्यक है।

हो गए हैं, अतः ये घर का निर्माण नहीं करते तथा तीन करण, तीन योग से पृथक हो जाते हैं। वे बनाते नहीं, बनवाते भी नहीं तथा अनुमोदन भी नहीं करते। ये तो अपनी साधना में लीन हैं, सम्पूर्ण मुक्ति के मार्ग पर ये आगे बढ़ रहे हैं।

आपने देखा और आप जानते हैं कि सन्त वर्ग, श्रमण वर्ग आदि इन सांसारिक बातों में नहीं पड़ते, ये तो अपनी साधना मैं लीन रहते हैं। आप गृहस्थों से ये अवश्य ही कुछ कदम आगे हैं, बल्कि बहुत आगे हैं। तो ये बड़े हुए कि आप ? इसी प्रकार भगवान के विषय में विचार करें कि ये सन्तसती बड़े अथवा भगवान बड़े ? उत्तर तो इसका स्पष्ट ही है कि भगवान ही बड़े हैं। क्योंकि उन्होंने साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर परम पवित्र अवस्था को प्राप्त कर लिया है। साधना का ही यह प्रताप है, उसी का यह प्रतिफल है। सन्त-सती भी साधना के मार्ग पर चलते हैं और अपने हृदय से कर्तृत्व भाव को हटा देते हैं। वे निर्माण नहीं करते। भगवान तो पूर्णता को प्राप्त कर ही चुके, अतः उनके द्वारा निर्माण किए जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। साधना से शुद्धि करते-करते वे चरम शुद्धि तक पहुँच चुके हैं। यह है शुद्ध रूप में रहने वाले भगवान का रूप।

किन्तु बद्ध स्थिति जब तक रहती है, तब तक निर्माण करने का। कर्तापने का भाव रहता है। मैं आपको पहिले जता चुका हूँ कि ईश्वर के तीन रूपों को लेने से यह विवेचन स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है। उन तीन में से सिद्ध ईश्वर वे हैं जो कि आठ कर्मों से रहित हैं और सिद्ध क्षेत्र में अपने वास्तविक स्वरूप में तल्लीन हैं। वे किसी भी प्रकार के कर्तापने का अनुभव नहीं करते हैं। अर्थात् न तो वे सिद्धक्षेत्र से वापिस आते हैं, और न ही वे इन दृश्य पदार्थों की रचना करते हैं।

गीता जी में एक वाक्य आता है—

"यत्र गत्वा न निर्वतन्ते तद्धाम परमं मम।

अर्थात्, जहाँ जाने के बाद वापिस लौटना नहीं होता है, वही मेरा परम धाम है।

क्यों कि वह गंभीर गुरु पद पर आसीन है। उसके लिए अनिवार्य है कि वह अपने जीवन में संवर का पुट रखे, संवर में चले। वह साधु जीवन के व्रत ग्रहण करता है। साधु वृत्ति में वह सभी प्राणियों को अभयदान देता है। जो प्रथम महाव्रत को प्राप्त होता है तो उसमें—"सव्वाओ पाणाइवायाओ.... ।" अर्थात् सब प्रकार की हिंसा से मैं हटता हूँ—ऐसी उसकी भावना होती है, प्रण होता है, वृत्ति होती है। ऐसा वह साधु सबके लिए हितकारी होकर चलता है और इस प्रकार उसका जीवन संवर में रहता है। उसके शरीर के जर्रे-जर्रे में, अणु-अणु से, रोम-रोम से, श्वास-श्वास से अहिंसा की सुरभि बिखरा करती है, अहिंसा की शुभ, पवित्र झलक झिलमिलाया करती है।

गुरु का जीवन संवर और क्रिया से सम्बन्धित होता है, इनसे परिपूर्ण रहता है तथा इसके बहुत से नियम होते हैं। मेरी इच्छा है कि वे सभी नियम-उपनियम आपको यथासमय बता दूं ताकि आप सभी लोग यह जान सकें कि गुरु पद किस प्रकार का होता है, उसका कितना महत्व है तथा आप यह भी अच्छी तरह समझ लें कि ये संवर और क्रिया के साथ चलने वाले महात्मा है। मेरा अनुमान है कि इस प्रकार का ज्ञान होने से आपके जीवन में एक नई प्रेरणा जाग सकती है तथा आप अपने जीवन में नया प्रकाश प्राप्त करने के प्रयत्न में दृढ़संकल्प के साथ प्रवृत्त हो सकते हैं।

उपरोक्त लक्षण आप सबके समक्ष रखने की मेरी भावना थी। प्रसंग चल रहा था, और यदि वे लक्षण आपके समक्ष आज ही मैं रख पाता तो श्रेष्ठ होता। मेरा अनुमान था कि व्याख्यान की स्थिति घण्टे भर चलेगी। किन्तु अन्तराय कर्म का प्रसंग है—वह आ जाता है। कम समय तथा कुछ शारीरिक दृष्टि से यह सम्बन्ध है, किन्तु कोई विशेष बात नहीं। यह शरीर तो एक यन्त्र के तुल्य बना हुआ है। यह शरीर एक पुतला है। इस शरीर के साथ कोई विशेष स्थिति नहीं रखनी चाहिए। मैं आपकी भावना को दृष्टि में रखते हुए आया अवश्य और थोड़ा ही बोल रहा हूँ। तो मैं कह रहा

था कि आप अपने जीवन की स्थिति को ठीक तरह से लेकर चलें और संवर के साथ क्रिया को रखकर चलें। जो आवश्यक स्थिति है उसी का, केवल उसी का साथ करें और अनावश्यक के साथ उदासीन रहें। खेद की बात यही है कि अनावश्यक के साथ भी मनुष्य का मन संलग्न हो जाता है और अपने मन पर उसका पूरा और ठीक तरह से नियन्त्रण नहीं रह पाता है। इस कारण से संवर की प्रक्रिया नहीं रह पाती है। तो इस विषय में सभी को विचार करना चाहिए और जीवन में संवर की क्रिया रहे, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

—इत्यलम्।

१० | शब्द और अर्थ

"असंखयं जीविय मा पमायए

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्तिजिन एक मुझ विनती……"

प्रभु शान्तिनाथ के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का गायन के रूप में उच्चारण हुआ है। ये प्रार्थना की कड़ियाँ कई दिन से चल रही हैं तथा जिन कड़ियों का अर्थ हो गया है, उन्हें छोड़कर आगे की कड़ियाँ ली जा रही हैं। प्रश्न उठ सकता है कि परमात्मा की प्रार्थना किस रूप में की जाये ?

वैसे तो चौवीस तीर्थंकर अनन्त सिद्ध हो चुके हैं। और ऐसे अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी की दृष्टि से देखा जाय तो अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं। यदि हम उनकी प्रार्थना एवं स्तुति अनन्त के रूप में करें तो न तो हमारे पास उतना समय है, न शक्ति है और न ही उतने शब्द ही हमारे पास हैं कि किसी कविता में बद्ध करके उन अनन्त तीर्थंकरों की प्रार्थना की जा सके। इतना ही नहीं, इतने नाम भी हमारे मस्तिष्क में नहीं आ सकते, क्योंकि अनन्त भगवान हैं और उनके नाम भी अनन्त हैं। एक भगवान के नाम भी अनन्त हैं। उस एक-एक नाम की व्याख्या की जाए तो अनन्त दिन बीत जाये तो भी उनके गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता।

यह जो शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना चल रही है यह तो प्रार्थना का एक माध्यम है। आचार्य श्री जी महाराज जो प्रार्थना की विधि आरम्भ कर गये हैं उस दृष्टि से मैं भी प्रार्थना की कुछ कड़ियों का उच्चारण कर लेता हूँ। किन्तु हमें इन कड़ियों तक ही सीमित नहीं रहना है। चाहे मैं

अलग-अलग भगवान का नाम लेकर प्रार्थना करूँ या शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना करूँ, पर भगवान का स्वरूप तो एक ही सरीखा सब में आयेगा। आप चाहें तो नाम का परिवर्तन कर सकते हैं, कड़ियों का भी परिवर्तन कर सकते हैं। किन्तु इस समय हमारे बीच शान्ति का एक सिल-सिलेवार विचार चल रहा है तथा शान्तिनाथ भगवान की इस प्रार्थना में जन्म के प्रारम्भ से लेकर आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक का थोड़ा-सा संकेत है। यह संकेत प्रत्येक प्रार्थना में नहीं है। इसके अतिरिक्त इधर शास्त्र की दृष्टि से उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन का जो थोड़ा-सा विवेचन आरम्भ किया वह विवेचन भी इसी प्रार्थना के साथ सम्बन्धित सा है। अतः इन्हीं सम्बन्धों के कारण मैं इस प्रार्थना का प्रतिदिन कुछ न कुछ उच्चारण कर रहा हूँ।

हाँ, मैं यह जानता हूँ कि मानव-स्वभाव परिवर्तन का इच्छुक रहता है। वह चाहता है कि नये-नये भगवान के नाम अधिक से अधिक आये। एक ही प्रार्थना का प्रतिदिन क्या गाना ? प्रार्थना तो प्रतिदिन नई-नई होनी चाहिए। किन्तु मैं सोचता हूँ कि अलग-अलग प्रार्थना के गाने से क्या भगवान का स्वरूप बदल जाता है ? भगवान का स्वरूप तो वही, एक ही रहने वाला है। यह ठीक है कि मनुष्य की परिवर्तन प्रेमी रुचि के अनुसार बीच-बीच में नाम का परिवर्तन कर दिया जाता है। जिस प्रकार घी मनुष्य के लिए पौष्टिक पदार्थ के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। ये माताएँ अपने परिवार के सदस्यों को घी खिलाना चाहती हैं और घर में सदैव एक ही प्रकार का भोजन नहीं बनाती हैं। भोजन में भी परिवर्तन होता रहता है। यथा—कभी हलुवा बनाया जाता है तो कभी चूरमा-बाटी और कभी कोई अन्य व्यंजन। किन्तु इसमें अन्ततः अथवा मूलतः क्या वस्तु है। सब में आटा, घी और शक्कर ही तो है। आप अपने मन को बहलाने के लिए अलग-अलग प्रकार से इनका प्रयोग करलो, लेकिन मूल वस्तु तो वही रहेगी।

इसी प्रकार आज पहली, कल दूसरी, परसों तीसरी प्रार्थना की जा सकती है। किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला है। मुख्य और महत्व की बात

तो यह है कि हमें उसके अन्तर के रस को ग्रहण करना चाहिए। जब तक हम ऐसा नहीं करते, तब तक शान्ति का संचार हमारे अन्तःकरण में नहीं हो सकता।

ऐसी शान्ति जिन्हें प्राप्त हो गई है और जो चरमसीमा पर पहुँच गये हैं, उन्हें शान्ति की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जिनको जोरों की भूख है और शान्ति की प्यास है, वे तो शान्ति-शान्ति की रट लगाये ही रहेंगे। एक भूखा मनुष्य अन्न के लिए और प्यासा मनुष्य पानी के लिए पुकार लगाता ही रहेगा। उसे सब तरफ पानी ही पानी दिखाई देता है, पानी ही पानी की ध्वनि सुनाई देती है। स्वप्न में भी उसे पानी ही दिखाई देता है।

कभी आप चउविहार उपवास कर लेते हैं और गर्मी का मौसम हो, तो दिन का समय तो उपवास में निकल जाता है किन्तु रात्रि में पानी का ही स्वप्न दिखाई देता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि हम अपने जीवन में वास्तविक दृष्टि से देखें तो उस स्थायी शान्ति की जिज्ञासा हमारे भीतर जबरदस्त होनी चाहिए।

मैं यह प्रयास कर रहा हूँ कि ऐसी जिज्ञासा आपके हृदय में जगे और आपको वह शान्ति प्राप्त हो। इस एक प्रार्थना की प्रक्रिया की कड़ियों का आधार लेकर ही मेरा यह प्रयत्न चल रहा है। शास्त्र में पाठ आया—आर्य सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य आर्यजम्बू से कहा कि—"तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था।' अर्थात्—उस काल और उस समय में राजगृह नाम का नगर था।

तो विचार कीजिए, जिस समय सुधर्मास्वामी जम्बू को उपदेश दे रहे थे उस समय राजगृह नाम का नगर मौजूद था। तो व्याकरण की दृष्टि से वहाँ "तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था"—यह क्रिया दी गई—तो साधारण व्यक्ति इस क्रिया को लेकर उलझन में पड़ सकता है और सोच सकता है कि क्या सुधर्मास्वामी को व्याकरण का ज्ञान भी नहीं था? और

वाक्य की शुद्धि का ज्ञान भी नहीं था ? वर्तमान में होता है तो भूतकाल का प्रयोग कैसे हुआ ? वर्तमान में जो मौजूद है, तो उसके लिए 'था' ऐसा प्रयोग क्यों किया जा रहा है ?

विचार का स्थल यही है। जो व्यक्ति व्याकरण, न्याय, नय, निक्षेप— इन तत्वों को जानता है और इन तत्वों के साथ व्याख्या करने की सामर्थ्य रखता है तो वह शास्त्र के मर्म को भी समझ सकता है तथा सुधर्मा स्वामी के कथन में भूल निकालने की भूल वह नहीं करेगा। क्योंकि पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से शब्द नय का जहाँ प्रयोग होता है उसमें वर्तमान की स्थिति ही मुख्य रहती है, और वर्तमान की स्थिति के साथ-साथ जो पर्याय का कथन होता है—उस समय की दृष्टि से शब्द निर्देश करते हैं।

जिस समय में भगवान महावीर ने राजगृही में उपदेश दिया था उस समय उस नगर का दूसरा रूप था। और आज भी राजगृही का नाम तो है, किन्तु जिस समय उपदेश दिया उस समय की राजगृही और आज की राजगृही में अन्तर आ गया है। वह अन्तर पर्याय की दृष्टि से आया है। तो पर्याय की दृष्टि से प्रयोग किया गया कि राजगृही नगर था। कल था, वैसा आज नहीं है।

आपके विचारों में भी निरन्तर परिवर्तन चल रहा है। वह एक प्रकार के रूप में है, जो कि किसी स्थान पर, किसी क्षण ठहरना नहीं, एक-सा नहीं रहता। आत्मा भी एक स्थायी-ध्रौव्य रूप में जो चल रहा है उसी रूप में है। किन्तु पर्याय की दृष्टि से जो कल थी वह आज नहीं है। एक ही स्थान पर हम उसी प्रकार दुबारा बैठना चाहें तो स्मृति की दृष्टि से तो वैसा लग सकता है किन्तु वास्तव में सब कुछ बदला हुआ होता है। हमारी तो क्या बात, किन्तु तीर्थंकरों के लिए शास्त्र में वर्णन है कि वे अनन्त शक्तिशाली हैं। किन्तु ऐसा होते हुए भी वे अपने हाथ को जिस स्थान पर रखते हैं—भूमि पर, रखकर फिर उठाते हैं और तत्क्षण उसी स्थान पर फिर रखना चाहते है फिर भी उन परमाणुओं पर हाथ नहीं रख सकते हैं। आप सोचेंगे कि

ऐसा क्यों ? तो उसका उत्तर है कि परमाणु अति चंचल हैं । उन्हें पकड़ना असंभव है । कोई भी उन अति चंचल परमाणुओं को पकड़ नहीं सकता । अत: तीर्थंकरों का हाथ भी उन्हीं परमाणुओं पर दुबारा नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि वे तो आते और चले जाते हैं ।

तो बन्धुओ ! जिस प्रकार से परमाणुओं का परिवर्तन होता है । वैसे ही इस मनुष्य-शरीर का भी परिवर्तन होता है । इसके पीछे, मैं आपको जो वैज्ञानिक दृष्टि है वह देना चाहता हूँ । वैज्ञानिक लोग भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन्सान का शरीर जिन परमाणु-स्कन्धों से बना है वे भी सतत परिवर्तित हो रहे हैं और बारह वर्षों के बाद वे सभी परमाणु निकल जाते हैं और उनके स्थान पर नए परमाणु आ जाते हैं। ध्रौव्य रूप की स्थिति तो वही चलती है, किन्तु पर्याय की दृष्टि से उसमें परिवर्तन होता रहता है ।

आप इस लोहे के स्तम्भ को देख रहे हैं । इसमें भी निरन्तर गति हो रही है । आप कहेंगे कि यह तो बराबर वैसा का वैसा स्थिर और टिका हुआ है, किन्तु ऐसा नहीं है, उसमें भी परिवर्तन हो रहा है । यदि आप माइक्रोस्कोप से देखें तो आप पाएंगे कि इस स्तम्भ में से अनन्त परमाणु निकल रहे हैं और अनन्त परमाणु इसमें प्रवेश भी कर रहे हैं । स्थायी स्तम्भ की दृष्टि से स्तम्भ (खंभा) है, परन्तु परिवर्तन हो रहा है । आज आपके पास वह यन्त्र नहीं है, किन्तु अनुमान की दृष्टि से देखिए और सोचिए कि इसमें से परमाणु नहीं निकलते होते और प्रवेश भी नहीं करते होते तो यह स्तम्भ सदा काल के लिए ऐसा एक सरीखा ही रहना चाहिए था । किन्तु बताइये कि क्या यह सदाकाल के लिए ऐसा ही रहता है ? या अपने आप में एक दिन नष्ट हो जाता है ? इसके परमाणु खिर जाते हैं, इसमें जंग लग जाता है ? और यह नष्ट हो जाता है । यह जंग लग जाना क्या है ? पुराने, पहले के परमाणुओं का चला जाना तथा नए, अन्य परमाणुओं का आ जाना । हाँ, एक साथ यह प्रक्रिया नहीं होती, लेकिन धीरे-धीरे होती है ।

इसी प्रकार, शास्त्रीय दृष्टि से यह शरीर भी परिवर्तनशील है । अधिक वर्षों तक यह भी नहीं टिक सकता है । इसके परमाणु भी निकल जाते हैं ।

यही संसार का स्वरूप है। वैज्ञानिक दृष्टि इससे भी आगे बढ़ती है तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों के विषय में ज्ञान कराती है। किन्तु इस स्थान पर मैं उस वैज्ञानिकता में नहीं जाऊँगा, अन्यथा आप शिकायत करेंगे कि महाराज तो वैज्ञानिक बातें करते हैं। किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि इन बातों को समझना भी आवश्यक है, अन्यथा जीवन को नहीं समझा जा सकेगा।

शास्त्रकारों ने कहा है कि—

जे एगं जाणई से सव्वं जाणई

जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ

अर्थात्—जो एक को जान लेता है, वह समग्र को जान लेता है। और जो समग्र को जानता है वही एक को जान सकता है। यह शास्त्रीय दृष्टि है। उसे ध्यान में रखना है।

भाइयो ! आप सोने-चाँदी का परीक्षण करते हैं, रत्नों का भी परीक्षण करते हैं। किन्तु यदि आप रत्नों की पहिचान नहीं रखते हैं तो उनकी परीक्षा भी नहीं कर सकेंगे। रत्न कैसे होते हैं, यह जानने के लिए रत्नों के लक्षण जानना आवश्यक है। उसी के साथ-साथ आपको पत्थरों का लक्षण भी जाना चाहिए। तभी आप रत्न और पत्थर में ठीक भेद कर सकेंगे अन्यथा आकार तथा रंग में तो पत्थर तथा रत्न एक ही सरीखे से दिखाई देते हैं और देखने वाला धोखे में पड़ सकता है। वास्तविकता यह है कि रत्नों के लक्षण पत्थरों से भिन्न हैं। तभी रत्न, रत्न हैं, और पत्थर, पत्थर। एक को हम मूल्यवान मानते हैं और दूसरे को व्यर्थ। चतुर जौहरी को दोनों के लक्षणों का ज्ञान होना चाहिए।

ठीक इसी दृष्टि से जीवन को भी परखना होता है। जो पदार्थ जिस रूप में है, उसे उसी रूप में जानना समझना चाहिए उससे भिन्न रूप में नहीं। जो पदार्थ परिवर्तनशील है उसे उसी रूप में तथा जो स्थायी है, अपरिवर्तनशील है उसे उसी रूप में समझना चाहिए।

वस्तु में तीन बातें कही जा रही हैं—"उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्। सत उसको कहा गया है कि जिसमें उत्पत्ति, विनाश और स्थायीपन हो। उनकी स्थिति क्या है ? उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए—

मान लीजिए कि आपके पास सोने की डली है। उसे आप सोने के पाट में से काट कर लाए हैं। तो उस सोने की डली का आकार अभी आपके पास है। अब आप सुनार से कहते हैं कि भाई, मुझे इसकी एक जंजीर बना दो। सुनार उस सोने की डली को तोड़ता है, उसे गलाता है, फिर उसकी जंजीर बना देता है। तो कहिए, कि क्या अब सोने की डली का आकार रह गया ? नहीं, वह आकार नष्ट हो गया। उस विनाश में से जंजीर का दूसरा आकार उत्पन्न हो गया। एक का उत्पादन हुआ और दूसरे का व्यय हुआ—नाश हुआ तो सोने की डली का हुआ और उत्पत्ति हुई जंजीर की।

किन्तु स्वर्ण का क्या हुआ ? स्वर्ण किस में है ? डली में भी सोना था और जंजीर में भी सोना है। तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों साथ में चल रहे हैं। तो स्वर्ण की यह स्थिति बनी कि जंजीर के विषय में कहेंगे कि कि डली नहीं है और डली के विषय में कहेंगे तो कहेंगे कि जंजीर नहीं है। भूतकाल में डली थी, किन्तु वर्तमान में नहीं है, वर्तमान में तो वह जंजीर है।

अस्तु, यह कथन जो है वह पर्याय की दृष्टि से होता है। सोने की डली 'थी', यह प्रयोग हुआ, न कि सोने की डली 'है', ऐसा प्रयोग हुआ। तो सुधर्मास्वामी कह रहे हैं कि—"तेणं कालेणं, तेणं समएणं" तो यहां तात्पर्य यह है कि पर्याय की दृष्टि से वह राजगृही नगरी और थी और आज कुछ और है। तो उन्होंने तदाकालीन वचनों की शुद्धदृष्टि से यह कहा—ताकि कहीं उसमें असत्य की दृष्टि न आ जाये। अतः अपेक्षा दृष्टि हो तो ठीक तरह से चल सकते हैं। यदि अपेक्षा को भूलकर चलेगा तो व्यक्ति कभी-कभी भ्रम में पड़ सकता है।

कभी-कभी कोई भाई कहते हैं कि आप उपवास पचक्खाते हैं तो "उग्गए सूरे"—हमारा पचक्खाण आरम्भ होता है—सूर्य के उदय होने के

वाद से। जब ऐसा पाठ है तो हम आधा घण्टा रात रहते पानी पीलें तो क्या हर्ज है ?

ऐसा तर्क जो भाई देते हैं, वे पच्चक्खाण की अटकलबाजी लगाते हैं। कभी-कभी कोई साधक भी इसी प्रकार से कह जाते हैं। वे कहते हैं कि पचक्खाण सूर्य उदय होने के बाद चालू होता है। तो सूर्य उदय होने पर उपवास कर लिया जाये और रात्रि में भोजन कर लिया जाय। भाइयो ! यह तो शब्दों को पकड़ना है। हम शब्दों को पकड़ कर आज बैठ गये हैं तभी हमारा यह हाल हो रहा है। वास्तविकता यह है कि हमें शास्त्रों के मर्म का ज्ञान नहीं है। हमें मर्म को ग्रहण करना चाहिए, शब्द तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए।

कोई आदमी पानी पीकर आया उपवास में और कहता है कि महाराज, ग्यारहवाँ पौषध करा दो। तो किस आधार पर ऐसा कर रहे हो भाई ? ग्यारहवाँ पौषध करने के लिए आपको रात्रि के बारह बजे से चउविहार की स्थिति में चलना चाहिए। लेकिन आपने पानी पी लिया तो दसवाँ पौषध होगा। और ग्यारहवाँ पौषध पचखोगे तो किस से पचखोगे ? 'अशन, पान, खादिम, सादिम' से ही पचखोगे न ? तो इसमें तो आहार का, पानी का— सभी का त्याग हुआ। तो वे कह रहे हैं कि पानी पीने के बाद हम असण-पाण का त्याग करते हैं। यदि इस प्रकार से पहले से खा-पी लें और फिर पौषध पचखें तो फिर तो यह मुसलमानों की तरह का रोजा हो जायगा, ग्यारहवाँ पौषध नहीं होगा। भगवान की बात नहीं रहेगी।

अतः नवकारसी, उपवास या पौषध लेना है तो उससे शब्दों के पीछे नहीं रहना है, किन्तु अर्थ के पीछे चलना है। यदि इस रूप में उपवास करना है तो रात्रि के बारह बजे के बाद या तो चउविहार ही करना चाहिए, या ऐसी स्थिति नहीं है तो नवकारसी भी की जा सकती है। और यदि पानी पी लिया तो दसवाँ पौषध लिया जा सकता है और पानी नहीं पिया है तो ग्यारहवाँ पौषध लिया जा सकता है। यही शास्त्रीय दृष्टि से अनुकूल है।

अस्तु, जो परमधाम में पहुँचने वाले हैं वे सृष्टि में कुम्भकार के समान नहीं रहते हैं। वे तो आदर्श रूप में, परम सिद्ध ईश्वर के रूप में हैं।

अब दूसरी स्थिति मुक्त ईश्वर की है। इनका शरीर मनुष्य का है, किन्तु मनुष्य के तन में रहते हुए भी उन्होंने राग-द्वेष, मद-मत्सर आदि समग्र विकारों को नष्ट कर दिया है। उनका ज्ञान तथा सिद्धों का ज्ञान एक हो गया है। जितना ज्ञान सिद्ध ईश्वरों को होता है, उतना ही ज्ञान मुक्त ईश्वरों को भी होता है। वे मुक्त ईश्वर इस भूमंडल पर विचरण करते हैं, क्योंकि शरीर है और चार कर्म शेष हैं। किन्तु राग-द्वेष नहीं हैं और साधना के मार्ग पर चलते हुए उन्होंने यथाख्यातचारित्र को प्राप्त कर लिया है। इसीलिए वे मुक्त ईश्वर कहलाते हैं। उनका कर्तापन भी अन्य बद्ध ईश्वर के समान नहीं है। किन्तु उपदेश कर्ता के रूप में वे अपने मुखारविन्द से जनता को उनके हित-अहित का उपदेश देते हैं, उनके कल्याण का मार्ग उन्हें बताते हैं। तटस्थ रूप से वे श्रेय मार्ग का संकेत करते हैं कि यह मार्ग ठीक है। वह मार्ग ठीक नहीं है—यह स्वर्ग का मार्ग है, वह नरक का—यह पशु योनि में ले जाने वाला रास्ता है और यह मनुष्य योनि में, इत्यादि।

इसी प्रकार ये मुक्त ईश्वर हमें आत्मा, अनात्मा, शक्ति, परमाणु तथा संसार किस रूप में है, इसका संकेत दे देते हैं, किन्तु वे किसी पर भी किसी भी प्रकार का कोई दबाव नहीं डालते कि तुम्हें ऐसा ही करना है। वे तो कहते हैं—"जहा सुहं-देवाणुप्पिया।" अर्थात्—तुम को जैसे सुख हो, वैसा ही करो। किन्तु एक क्षण मात्र का भी प्रमाद मत करो।

तटस्थ रूप में रह कर, जनता के कल्याण के मार्ग का संकेत करने वाले इन आत्माओं को मुक्त ईश्वर की संज्ञा दी गई है। ये पहाड़-पर्वत, हाट-हवेली इत्यादि बनाने में अपना कर्तृत्वपना नहीं करते हैं। जहां तक शक्ति का प्रश्न है, इनमें अनन्त शक्ति है, किन्तु वे ऐसा आचरण नहीं करते हैं।

तीसरे बद्ध ईश्वर हैं। ये माया-कर्म से बद्ध हैं। जितनी भी छल-कपट की बातें हैं, वे सभी इनमें विद्यमान हैं। अर्थात् मोह कर्म है तो उनके साथ अन्य सभी कर्म भी लगे हुए हैं। ऐसी आत्मा चाहे मनुष्य के रूप में ही क्यों

तो मैं कह रहा था कि सुधर्मास्वामी के वाक्य ऐसे थे कि प्रभु ऐसा कह रहे हैं, और शान्तिनाथ भगवान ने भी ऐसा ही कहा है और ऐसी ही दृष्टि से कहते चले जा रहे हैं। तो शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना की कड़ियाँ जो कल कहीं, वे ही है, ऐसा नहीं है। पर्याय का परिवर्तन होता चला जा रहा है। हमें तो उनका अर्थ समझना चाहिए। यदि हम उस अर्थ को समझेंगे तो हमें शान्तिनाथ भगवान का रस आयेगा।

मेरे मस्तिष्क में जो विषय अधिक चल रहा है, वह शान्ति के सोपान का है। अब उसे मनुष्य जीवन में उतारे या न उतारे यह अलग बात है। लेकिन उनका मार्ग कैसा प्रशस्त है, यह बात मैं आपके सामने रख रहा हूँ। तो शास्त्रीय पाठ चलता है कि—

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा ......।"

जो आगम का—सूत्र का प्रसंग है, उसके प्रसंग से उसमें बताया गया है कि वहाँ स्वाध्याय का भी निर्देश किया गया है। उसका तात्पर्य यह है कि अपने जीवन में वह आत्मिक शक्ति जागृत करने के लिए स्वाध्याय भी आवश्यक है। किन्तु वह स्वाध्याय शास्त्रीय तरीके से हो, मनमाने ढग से नहीं। यदि वह स्वाध्याय मनमाने ढंग से किया गया तो वह उल्टा पर-वस्तु को भी पकड़ सकता है तथा जीवन में भ्रान्ति भी उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार चलने से जीवन में शान्ति के स्थान पर अशान्ति उत्पन्न होने का भय है। किन्तु जो गुरु धारणा से, नय-निक्षेप के साथ अनुसन्धान करते हुए स्वाध्याय किया जाता है वह महत्वपूर्ण होता है।

स्वाध्याय का उद्देश्य क्या है? ज्ञानार्जन। ज्ञान के उपार्जन के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय किया जाय और वह विचारपूर्वक किया जावे। सिलसिलेवार उनकी स्थिति को समझना है—उनके रहस्यों को समझना है कि कहाँ-कहाँ, उन-उन स्थानों पर नय-निक्षेप आया है। इस प्रकार उन नयों को लेकर चलें तब तो ठीक मार्ग पर चलना हो सकता है किन्तु यदि शास्त्रों को पढ़ते-पढ़ते उनके नयों को—अपेक्षाओं को, रहस्यों को नहीं समझा तो चक्कर में पड़ जायेंगे, भ्रान्ति के शिकार बन जायेंगे।

शास्त्र की दृष्टि से आपको समझा दूँ कि जैसे आपको पुण्य का स्वरूप ाया जाता है, तो पुण्य के स्वरूप की दृष्टि से कितने प्रकार से पुण्य बांधा ता है ? तो बताया जाता है कि नौ प्रकार से पुण्य बांधा जाता है। यह प्रकार का पुण्य ठाणांग सूत्र में आया है कि—"अन्न पुण्णे, पाण पुण्णे, यन पुण्णे, सयण पुण्णे····· ।" तो अन्न पुण्य का अर्थ क्या हुआ ? इसका र्थ हुआ कि अन्न देने से पुण्य-बन्ध होता है। अब आप बताइये कि इसमें ना' शब्द कहाँ से आया ? यह शब्द किसने जोड़ दिया ? जबकि पाठ में तो वल "अन्न पुण्णे" ही आया है। तो आपको थोड़ा-सा स्वाध्याय की स्थिति तरफ ध्यान दिलाने की दृष्टि से कहता हूं कि वहाँ देना शब्द नहीं है। भाई 'उग्गए सूरे' की स्थिति को लेकर भ्रान्ति में पड़ रहा है, उसकी ान्ति-निवारण हेतु बताता हूं कि अन्न पुण्य में 'देना' कहाँ है।

एक व्यक्ति के घर के अन्दर अन्न का कोठा भरा हुआ है तो पुण्य भरा ा है, टिफिन में भोजन भरा है तो पुण्य भरा है—क्योंकि शास्त्र का पाठ इतना ही है कि "अन्न पुण्णे।" किन्तु आप स्वयं कहेंगे कि केवल कोठा ा होने से तो पुण्य नहीं होता—अन्न देने से पुण्य होता है। जबकि मूल ठ में 'देना' नहीं है। तो इसका तात्पर्य अर्थ यह हुआ कि—अन्न पुण्य नहीं, न्तु शुभ भावना से दूसरे को अन्न देना, यह पुण्य का कारण है। परम्पर- रण है। और अनन्तर कारण वह शुभ भावना है। शुभ भावना पूर्वक यदि न दिया जा रहा है तो वह पुण्य होगा। इसके विपरीत यदि शुभ भावना ीं है और अन्न दिया जा रहा है, तो वह भी पुण्य का कारण नहीं होगा। ल्क अशुभ भावना से दिये जाने पर वह पाप ही होगा।

आप प्रश्न करेंगे—यह कैसे ? तो उदाहरण सहित इस बात को मझाए—

तो नागश्री ने भी वह साग अपनी जीभ पर रखकर चख लिया। किसी कारण से वह साग कड़वा लगा। तो उसने सोचा कि यह तो गड़बड़ हो गई, उससे तो मेरी बुद्धि का कड़वापन प्रगट होगा। तो उसने उस साग को अलग रख दिया और दूसरा अच्छा साग बना लिया। सारे परिवार को उसने आनन्दपूर्वक जिमा भी दिया। अब जो पहले वाला साग था उसके विषय में वह सोचने लगी कि इस साग का मैं क्या करूँ? इसमें मैंने इतने मसाले डाले हैं, घी डाला है, ये सब व्यर्थ हो जायेंगे। आखिर मैं इसका क्या करूँ? वह ऐसा विचार कर ही रही थी कि इतने में एक तपस्वी महात्मा वहाँ पहुँचे। नागश्री ने सोचा कि चलो, समस्या का समाधान हो गया। मैं सोच रही थी कि इस साग का क्या करूँ तो सहज में यह उखरड़ी घर में आ गई है तो इसको ही दे दूँ। साग भी व्यर्थ नहीं जायगा, पुण्य भी मिल जायगा।

तो उस बहिन ने वह साग, वह कड़वा साग उन महात्मा को दे दिया। महात्मा कहने लगे कि बहुत है, किन्तु उसने तो सारा साग उन्हें दे ही दिया। तो आगे जाकर महात्मा का क्या हुआ यह तो आप स्वयं ही सोचिए, लेकिन मुझे यह बताइये कि इस प्रकार से कड़वा—एक प्रकार से विषैला साग महात्मा को देने से क्या उस बहिन को पुण्य मिला? साग भी एक प्रकार का अन्न है। वह अन्न जो उस बहिन ने उन महात्मा को दिया, क्या उसके पीछे उस बहिन की भावना शुभ थी?

नहीं! आप कहेंगे कि उस बहिन की भावना शुभ नहीं थी। अतः उसे पुण्य मिलने की तो कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती, बल्कि पाप बन्ध ही हो सकता है। अतः जो प्रमुख बात है वह भावना है। कड़वे साग की बात जाने दीजिए, अशुभ भावना से यदि मिष्ठान्न भी दिया जाय तो पुण्य नहीं, पाप ही मिल सकता है। तो इन बातों को शास्त्रीय दृष्टि से सोचना-विचारना चाहिए। अर्थ और भावना पर दृष्टि रखकर चलना चाहिए।

एक अन्य उदाहरण भी प्रासंगिक होने से आपके सामने रखता हूँ। शास्त्र में यहाँ न्याय आया कि "गंगायाम् घोषः"—तो एक गुरु ने शिष्य को समझाने के लिए शब्दों का प्रयोग किया कि गंगा के अन्दर घोष है। अर्थात्—पानी

का प्रवाह वह रहा है, वह गंगा और उसमें 'घोष', यानि घास-फूस की झोंपड़ी। तो यह प्रयोग सुनकर शिष्य चकित हुआ कि गंगा के प्रवाह में घास-फूस की झोंपड़ी कैसे रह सकती है ? उसने अपनी शंका गुरुजी के सामने रखी और कहा कि यह वाक्य तो गलत हो गया। तो गुरुजी ने समझाया कि अब तक जो भी साहित्य, व्याकरण, न्याय इत्यादि तुमने पढ़ा, वह सब व्यर्थ ही गया। क्योंकि तुम शब्द को ही पकड़ कर बैठे हो। अर्थ तक तुम्हारी पहुँच अभी नहीं हुई। अरे, मैंने जो कहा उसका तात्पर्य है कि "गंगायाः तटे घोषः।" अर्थात् गंगा के तट पर घास-फूस मिट्टी की झोंपड़ी बनी हुई है। मेरे कथन का अभिप्राय यह है।

तो बन्धुओ ! शास्त्र में तो परिमित शब्द होते हैं। यही शास्त्रों का महत्व भी है। जहाँ "उग्गए सूरे" कहा जाता है तो वहाँ अभिप्राय रात के बारह बजे से होता है। शास्त्रों की परिमित शब्दावली में से गूढ़ार्थ को निकालने की कला होनी चाहिए, ऐसा ज्ञान होना चाहिए। जिनके पास वह कला नहीं है, वह ज्ञान-विज्ञान नहीं है, वे शब्दों में ही उलझकर रह जाते हैं तथा अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। "गंगायाम् घोषः" के उदाहरण से मैं बता रहा था कि एक-एक शब्द से अलग-अलग अर्थों का द्योतन होता है। उन्हीं प्रासंगिक अर्थों को हमें ग्रहण करना चाहिए। एक-एक वाक्य का रहस्य लम्बा-चौड़ा होता है, हमें उस रहस्य को जानना चाहिए।

एक पाठशाला थी। उसमें दो शिष्य सहपाठी थे। एक दिन दो गुरुओं ने अपने उन अलग-अलग शिष्यों को सूचना दी कि यह दही रखा है, हम स्नानादि से निवृत्त होकर आते हैं, तब तक तुम इस दही का ध्यान रखना। यह बात उन्होंने संस्कृत में अपने शिष्यों से कही कि—"**काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्**"—इसका अर्थ यह हुआ कि कौवों से दही की रक्षा करना। इतना कहकर वे गुरु चले गए। सुनने वाले दोनों शिष्य थे।

अब उन शिष्यों में से एक शिष्य ने सोचा कि गुरुजी ने कहा है कि कौवों से दही की रक्षा करना। सो यह बात मन में गाँठ की तरह बाँधकर वह आकाश की ओर ताक लगाकर बैठ गया कि कोई कौवा वहाँ आकर दही को

न खा जाय। उधर एक बिल्ली दही की ओर ताक लगाए बैठी थी। वह आई और आकर दही को खाने लगी। शिष्य ने देखा, और सोचा कि गुरुजी ने दही की रक्षा कौवों से करने के लिए कहा था, बिल्ली से नहीं। अतः उसने बिल्ली को नहीं भगाया और बिल्ली सारा दही चट कर गई।

किन्तु दूसरे शिष्य के पास जब बिल्ली पहुँची तो उसने उसे भी भगा दिया और दही की रक्षा की।

अब जब अध्यापक लौटे तो एक ने अपने शिष्य से पूछा—'दही की रक्षा की ?" शिष्य ने उत्तर दिया—"हाँ, गुरुजी ! रक्षा करली।" अध्यापक ने पूछा—"कौवे आए ?" तो शिष्य ने बताया कि कौवे तो नहीं आए, बिल्ली आई थी, उससे दही की रक्षा कर ली।

किन्तु जब दूसरे अध्यापक ने दूसरे शिष्य से यही बात पूछी तो उसने कहा—"मैंने दही की रक्षा कौवों से तो कर ली, आपकी ऐसी ही आज्ञा थी। किन्तु बिल्ली दही को खा गई। मैंने उसे नहीं रोका, क्योंकि आपने कहा था—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्।' अध्यापक ने अपने शिष्य की बुद्धि पर अपना सिर पीट लिया।

तो बन्धुओ ! आप समझ ही गये होंगे कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' कहने से अध्यापकों का अभिप्राय यह था कि प्रत्येक पशु-पक्षी से दही की रक्षा करना। किन्तु केवल शब्दों को पकड़कर बैठ जाने वाला शिष्य उनके वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सका। इस प्रकार वह विद्यार्थी अपने अध्यापक को प्रसन्न नहीं कर सका। तो जो विद्यार्थी अपने अध्यापक को भी प्रसन्न नहीं कर सका वह भगवान के आशय को क्या समझ सकता है ? भगवान का कथन तो अनन्त आशयों से भरा हुआ है। अतः जब तक ऐसी योग्यता नहीं आती कि किसी भी बात के सही आशय को समझा जा सके, तब तक कोई भी अध्ययन या ज्ञान निरर्थक ही माना जायगा। सुधर्मा स्वामी के वाक्य तथा उत्थान के विषय में भी जो कुछ बताया गया उसी दृष्टि से सोचना चाहिए। प्रत्येक दृष्टि का ज्ञान करना चाहिए। यदि आप इस स्थिति से नहीं

चलेंगे तो अपने स्वयं के स्वरूप का ज्ञान नहीं कर पाएँगे और साथ ही अपने स्वरूप की रक्षा भी नहीं कर पाएँगे।

बात चल पड़ी है तो सुनिए, कि दो मित्र कमाने के लिए विलायत गये। उनमें से एक का धंधा अच्छा चल गया तो उसने बहुत-सी सम्पत्ति अर्जित कर ली। किन्तु दूसरे मित्र ने खूब पुरुषार्थ किया, किन्तु विवेक न होने से उसका धंधा अच्छा नहीं चल सका और वह सम्पत्ति का अर्जन नहीं कर सका। तो उसने विचार किया कि इससे तो अपने देश में रहकर जैसा जो कुछ भी चले, वैसा ही करना-कमाना अच्छा। ऐसा सोचकर उसने अपने मित्र से कहा—'भाई, तुम्हारे तो अन्तराय कर्म का क्षयोपशम हो गया तो तुमने खूब कमा लिया। किन्तु मेरे पल्ले तो कुछ नहीं पड़ा। अतः मैं देश जाना चाहता हूँ। तुम भी चाहो तो मेरे साथ चलो।'

दूसरे मित्र ने उसकी बात सुनकर कहा—'मित्र ! मेरे तो इस समय बहुत फैलाव हो गया है। इसे समेटने में बहुत समय लग जायगा। समेटे बगैर मैं चल भी नहीं सकता। अतः तुम देश चले जाओ। मैं कुछ समय बाद में आऊँगा।' यह सुनकर पहले मित्र ने कहा कि ठीक है, जब तुम्हारी इच्छा हो तो आ जाना, मैं जाता हूँ। हाँ, घर के लिए कोई संदेश या कोई वस्तु देनी हो तो दे दो।'

दूसरे मित्र ने अपने देश जाने वाले मित्र को एक लाख रुपये का एक हीरा दिया और कहा कि यह हीरा मेरी पत्नी को दे देना। अस्तु, हीरा लेकर वह मित्र देश के लिए रवाना हो गया। घर आते-आते मार्ग में उसकी नीयत में फर्क आ गया। उसके मन में वासना जागृत हुई—पाप की वासना। उसने सोचा कि देने वाला मेरा मित्र और लेने वाला मैं। बीच में कोई साक्षी अथवा कोई लिखत-पढ़त तो है नहीं। अतः इसे आसानी से हजम करने का अवसर है। ऐसा कुविचार करके वह घर पहुँचा और हीरे को दबाकर बैठ गया। अपने मित्र की पत्नी को उसने कोई भी समाचार नहीं दिया और हीरा भी नहीं दिया।

जब उनके मित्र की पत्नी को पता लगा कि उसके पति के मित्र आये हैं, किन्तु कोई समाचार उन्होंने आकर नहीं सुनाए तब वह उनके घर गई और पूछा—'आप आ गए, किन्तु आपके मित्र नहीं आए। क्या कारण है ?'' तो उसने उत्तर दिया—'क्या बताऊँ, मेरे तो पुण्य का उदय था, सो जल्दी कमाई हो गई, अतः मैं जल्दी आ गया। किन्तु मेरे मित्र के अन्तराय कर्म का उदय था तो कुछ मिला नहीं।' तब मित्र-पत्नी ने पूछा—'क्या उन्होंने मेरे लिए कुछ भेजा भी नहीं ?' तो उस व्यक्ति ने जवाब दिया कि अरे भाभी ! वह तो स्वयं ही उलझन में है, वह आपके लिए क्या भेजता ?'

बेचारी महिला यह उत्तर सुनकर चुपचाप अपने घर लौट आई। इससे अधिक वह कर भी क्या सकती थी ? दुःखी और भारी मन से दिन गिन-गिन कर काटने लगी।

कुछ समय पश्चात् दूसरा मित्र अपना कारोबार समेट कर अपने घर पहुँचा और पत्नी से मिलते ही उसने पूछा कि सब कुशल तो है न ? पत्नी ने नाराजी बताते हुए कहा कि आपको किसी की कुशल-मंगल से क्या लेना-देना ? आपने तो अपने मित्र के साथ मेरे लिए दो शब्द का कोई समाचार भी नहीं भेजा, कोई वस्तु या रुपया भेजना तो दूर की बात।

पत्नी का यह रुख और यह बात सुनकर पति को बड़ा विस्मय हुआ। उसने कहा—'अरे, तुम कह क्या रही हो ? क्या मेरे मित्र ने तुम्हें कोई समाचार नहीं दिए ? और एक लाख रुपये का जो हीरा मैंने उसके साथ तुम्हारे लिए भेजा था, वह भी उसने तुम्हें नहीं दिया ?'

पत्नी द्वारा इन्कार किए जाने पर वह समझ गया कि उसके मित्र की नीयत खराब हो गयी है और उसने उसे धोखा दे दिया है। यह सोचकर वह अपने मित्र के पास पहुँचा। उसे देखकर उस मित्र का चेहरा उतर गया। आप जानते ही हैं कि पापी की आत्मा स्वयं अपने पाप को पुकार-पुकार कर कहती है। जब उसके मित्र ने पूछा कि भाई, तुमने वह हीरा, जो मैंने तुम्हें दिया था, अपनी भाभी को क्यों नहीं दिया ? तब उसने [illegible] को छिपाने के लिए दूसरा झूठ बोला कि मैंने तो वह हीरा तुम्हारे

दे दिया है। उसके मित्र ने कहा कि मित्र, सच कहो, मेरी पत्नी तो कहती है कि तुमने वह हीरा उसे नहीं दिया। तब वह कृत्रिम आश्चर्य और रोष प्रगट करता हुआ कहने लगा—अरे, मित्र! बड़ा आश्चर्य है। गजब हो गया। मैंने तो हीरा अपने हाथों से भाभी को दिया है। मैं तो समझता था कि मेरी भाभी बड़ी अच्छी है, लेकिन अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने वह हीरा अपने किसी और सम्बन्धी को दे दिया है और अब बात को छिपा रही है।

बन्धुओ ! उस पापी व्यक्ति ने एक तो चोरी की, और अब ऊपर से उसने अपने मित्र की पत्नी पर लांछन लगाने में भी हिचकिचाहट नहीं की। यह सारी बात सुनकर उसके मित्र को बहुत दुःख हुआ। उसने सोचा कि एक लाख के हीरे की तो कोई बात नहीं। जान है तो जहान है। रुपया और भी कमाया जा सकता है। किन्तु इसने तो मेरी पत्नी पर ही लांछन लगा दिया। मैं अपनी पत्नी को अच्छी तरह जानता हूँ। वह कभी ऐसा कार्य नहीं कर सकती।

अस्तु, इस कलंक से अपनी पत्नी को उबारने का निश्चय करके वह न्यायाधीश के पास पहुँचा और उनसे सारी यथास्थिति बयान कर दी। तब न्यायाधीश ने पूछा कि क्या कोई साक्षी है ? या कोई लिखा-पढ़ी है ? किन्तु ऐसा तो कुछ भी नहीं था। न्यायाधीश भी विचार में पड़ गए। किन्तु वे सज्जन व्यक्ति थे और उच्च विचारों वाले थे। अतः उन्होंने उसे सांत्वना देते हुए कहा कि मैं मामले की जाँच करता हूँ, तुम चिन्ता न करो।

न्यायाधीश ने उस मित्र को, बेईमान दोस्त को बुलाकर सारी बात पूछी। उसने तो वही झूठ जज के सामने भी दुहरा दिया कि हुजूर ! मैंने तो वह हीरा अपने मित्र की पत्नी को दे दिया है। तब जज ने पूछा—क्या तुम्हारा कोई गवाह है जिसके सामने तुमने वह हीरा अपनी भाभी (मित्र की पत्नी) को दिया ? उसके द्वारा 'हाँ' कहे जाने पर न्यायाधीश ने उन गवाहों को बुलाकर लाने का आदेश दिया। वह व्यक्ति अपने चार गवाहों को बुला लाया। ये चारों गवाह झूठे और नम्बरी थे। झूठी गवाहियाँ देना उनका पेशा था और न्यायाधीश महोदय इस बात को अच्छी तरह जानते थे। वे

अपने मन में विचार कर रहे थे कि यह पैसा भी कैसी वस्तु है कि इसके लालच में फँसकर आदमी हरामखोरी करना सीख जाता है।

अस्तु, न्यायाधीश महोदय ने उन चारों गवाहों को एक बेंच पर बिठाकर एक-एक गवाह को अपने कमरे में बुलाना आरम्भ किया। कमरे में एक स्थान पर उन्होंने कुछ पत्थर इकट्ठे करा लिए थे। अब उन्होंने पहले गवाह को बुलाकर कहा कि तुम कहते हो कि हीरा तुम्हारे सामने दिया गया था, तो बताओ कि वह हीरा कितना बड़ा था? जितना बड़ा वह एक लाख रुपये का हीरा था, उतना बड़ा पत्थर उठाकर मेरे पास लाओ।

अब एक लाख रुपये का मूल्यवान हीरा उस गवाह ने तो क्या उसके बाप-दादों ने भी कभी अपनी जिन्दगी में नहीं देखा था। वह सोचने लगा कि एक लाख का हीरा तो बहुत बड़ा होता होगा। ऐसा सोचकर वह एक किलो का पत्थर उठा लाया, और न्यायाधीश महोदय को दे दिया। न्यायाधीश ने उसे भीतर एक कोठरी में बिठा दिया। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे गवाहों को भी बुलाया गया और उन्होंने क्रमशः दो किलो, तीन किलो और चार किलो के पत्थर उठा-उठा कर न्यायाधीश को दे दिये। अन्त में उस चोर-मित्र को भी न्यायाधीश ने बुलाया और उसे भी हीरे के बराबर पत्थर उठाकर देने के लिए कहा। उसने हीरे के बराबर का पत्थर उठाकर दिया।

तब न्यायाधीश ने उसे गवाहों द्वारा उठा-उठा कर दिए गए पत्थरों को बताया और कहा—अब भी समय है। सच-सच बताओ कि तुमने अपने मित्र की पत्नी को वह हीरा दिया था नहीं?

बन्धुओ! पाप के पैर नहीं होते। गिड़गिड़ाते हुए वह न्यायाधीश के चरणों पर गिर गया और बोला—"हुजूर! मैं कुसूरवार हूँ। पापी हूँ। मे
नीयत बिगड़ गयी थी। मुझे माफी दीजिए। आगे कभी ऐसा
हुजूर! वह हीरा मेरे घर में ही है। अभी लाकर अपने
मैंने बड़ा पाप किया। एक तो मित्र के साथ विश्वासघात

उसकी पत्नी पर लांछन भी लगाया। मैं अपने मित्र और माता सरीखी भाभी के पैरों पड़कर उनसे क्षमा माँगूंगा।"

हीरा जिसका था, उसे मिल गया।

वन्धुओ ! यह तो एक रूपक है। इस रूपक को आपके सामने रखने का मेरा अभिप्राय यही है कि मैं आपको बताना चाहता था कि आप इस दृष्टि से विचार करें कि जिसे हीरे और पत्थर की पहिचान ही नहीं है, वह उसकी साक्षी कैसे दे सकता है ? तो हीरे की पहिचान के लिए पत्थर की भी पहिचान आवश्यक है।

भाइयो ! संसार के अन्दर अनेक पदार्थ हैं। उनकी पहिचान आत्मा की पहिचान के साथ ही होती है। इसीलिए कहा गया है कि—'जे एगं जाणई से सव्वं जाणई।" अतः जो परमाणु के स्वभाव को जानता है और विभाव को पूर्णरूप से जानता है। तो वह आत्मा के स्वभाव को पूर्ण रूप से जानता है। इस दृष्टिकोण से मैं कह रहा हूँ कि आपको स्वाध्याय का महावरा बनाना चाहिए। उसके माध्यम से यदि आपको तत्वज्ञान हो गया तो आप शान्ति के स्वरूप को जान सकेंगे। तो इस प्रकार स्वाध्याय के अर्थ का तात्पर्य आपके सामने आया। जो मनुष्य आध्यात्मिक जीवन को प्रकट करने वाले शास्त्रों का स्वाध्याय विधिवत् करेगा, केवल शब्दों से ही चिपक कर नहीं रह जायेगा, बल्कि उसके भीतर के रहस्यों को भली प्रकार से समझेगा, वही शान्ति और आनन्द के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर जो मनुष्य समस्याओं के हल को खोजने का प्रयत्न करेगा, वही अपनी समस्याओं का निराकरण ठीक प्रकार से कर सकेगा।

बन्धुओ ! एक समस्या का हल तो नारद बाबा कर रहे हैं, और दूसरी खोज इधर कुन्दनपुर में हो रही है। कुन्दनपुर के महाराज भीम नरेश अन्य राजाओं के समान नहीं थे। वे नीतिसम्पन्न थे। प्रजा को पुत्रवत् मानते थे और उनका संरक्षण पिता के समान ही किया करते थे। उनके पाँच पुत्र थे।

न हों, वे सभी बद्ध ईश्वर हैं तथा इस संसार के कर्त्ता-द्रष्टा के रूप में हैं। वैज्ञानिक दृष्टि आपके सामने आ चुकी है। विज्ञान की महान् उपलब्धियाँ भी आपके सामने हैं। नाना प्रकार के स्पुतनिक, अपोलो इत्यादि अन्तरिक्ष यान इन्हीं बद्ध ईश्वरों द्वारा निर्मित हैं भारत देश में ही भिलाई के कारखाने जैसे विशाल संयंत्र स्थापित कर लिए गए हैं। वहाँ लोहा गलकर फौलाद बनता है, फौलाद से बड़े-बड़े यन्त्र, बड़ी-बड़ी मशीनें तैयार होती हैं, अनेकों कारीगर वहाँ अपना-अपना काम करते हैं, उस निर्माण कार्य में अपना-अपना योग देते हैं।

अब यदि किसी जंगल में रहने वाले मनुष्य को ये सब कारखाने दिखाए जायँ तो वह विस्मय विमुग्ध होकर रह जायगा और विचार करने लगेगा कि इन सब चीजों को तो मनुष्य नहीं बना सकता, अवश्य ही ये सब वस्तुएँ तो भगवान द्वारा ही बनाई गई होंगी। उस अबोध व्यक्ति की सीमित कल्पना-शक्ति में यह बात आ ही नहीं सकती कि सामान्य मनुष्यों द्वारा ये सब वस्तुएँ बनाई जा सकती हैं। जबकि किसी नगर में रहने वाला व्यक्ति यह जानता है कि यह सब भगवान का नहीं, मनुष्य का ही बनाया हुआ है, फिर चाहे इन्हें बनाने वाले कारीगर रूस के हों, अमरीका के हों अथवा किसी अन्य देश के।

इतना सब जो कुछ निर्मित किया गया, उसे बनाने के लिए सिद्ध भगवान आए अथवा मुक्त भगवान ?

कोई नहीं आया। न सिद्ध भगवान आए और न ही मुक्त भगवान। यह सब कुछ तो मनुष्य के चोले में रहने वाले बद्ध ईश्वर द्वारा ही बनाए गए हैं। और इसी स्थान पर अन्त हो, ऐसा भी नहीं है। इतना तो आप सुन और जान ही चुके हैं, किन्तु आगे तो इससे भी अधिक आश्चर्य की बातें होने वाली हैं। सुना जाता है कि रूस ने तथाकथित चन्द्रलोक पर एक ऐसी गाड़ी भेजी है जिसे चलाने वाला कोई नहीं है, किन्तु वहाँ जाकर वह अपना कार्य कर रही है। गाड़ी चलती जाती है और प्रयोगशाला में संकेत भेजती रहती है। इस प्रकार के ये जो यंत्र कार्य कर रहे हैं, वे कोई अपनी इच्छा अथवा

एक पुत्री थी। पुत्री का नाम रुक्मिणी था। राजा ने जिस प्रकार अपने पाँचों पुत्रों को ७२ कलाओं में निपुण कराया था, उसीप्रकार से अपनी पुत्री को भी ६४ कलाएँ सिखाई थीं। उसके साथ ही उन्हें आध्यात्मिक कला से भी पूर्ण परिचित कराया था। यह भी एक प्रकार की शिक्षण पद्धति थी। यह विदर्भ देश की कथा है।

राजकुमारी जब वय की दृष्टि से तरुणाई की अवस्था में पहुँची तब राजा के लिए उसके विवाह के प्रसंग पर विचार करना आवश्यक हो गया। वे सोचने लगे कि पाँचों भाइयों में एक बहिन है, इसे मैंने सभी प्रकार की शिक्षा दी है, सभी कलाओं में निपुण किया है, तो अब इसका विवाह भी किसी योग्य वर के साथ करना चाहिए। क्योंकि आकृति की दृष्टि से तो सभी मनुष्य समान दिखाई देते हैं, किन्तु गुण एवं स्वभाव की दृष्टि से उनमें भेद रहता है। उस काल में इधर-उधर बहुत से राजकुमार विख्यात थे। किन्तु महाराज भीम नरेश किसी ऐसे राजकुमार की खोज में थे जिसमें आत्मिक गुण एवं निष्ठा भी पाए जायें। यह विचार करते हुए उन्होंने यह भी सोचा कि यद्यपि यह मेरी कन्या है और मैं इसका संरक्षक हूँ, मैं चाहूँ तो अकेला ही वर का निर्णय करके इसका विवाह कर सकता हूँ, किन्तु यह प्रसंग ऐसा है कि मुझे शीघ्रता नहीं करनी चाहिए तथा केवल अपनी ही मति से कार्य नहीं करना चाहिए। बल्कि इस विषय में मुझे परिवार के अन्य सदस्यों तथा अपने मंत्रियों आदि से भी उचित सलाह लेनी चाहिए। क्योंकि परिवार के मुखिया पर एक विशेष उत्तरदायित्व होता है और उसे उत्तरदायित्व को बड़ी गम्भीरतापूर्वक निभाना चाहिए।

राजा भीम नरेश ने इन सब बातों पर पूर्ण विचार किया। आज तो बहुत से भाई इस जिम्मेदारी को ठीक से समझते नहीं हैं। सन्तान पैदा करना एक बात है और सन्तान का उचित तरीके से लालन-पालन करना तथा उसे जीवन-समर में आगे बढ़ने के लिए सर्वथा योग्य बना देना यह दूसरी बात है। सन्तान के भावी जीवन का जिम्मा पिता पर और माता पर

अवश्य ही करनी चाहिए। आप देखते हैं कि पशु-पक्षी भी अपनी समझ तथा योग्यतानुसार इस उत्तरदायित्व का वहन करते हैं। वे जितना कुछ कर सकते हैं, वह कर गुजरते हैं। घोंसलों में रहने वाली चिड़िया भी अपने बच्चों की सार-सम्हाल करती है तथा जब तक वे बच्चे स्वतन्त्र रूप से उड़ने वाले नहीं हो जाते तब तक उनका पालन करती है। उस चिड़िया के मस्तिष्क की स्थिति इतनी ही है, तो वह इतना ही करती है। उन्हें उड़ना सिखा देती है। किन्तु क्या मनुष्य भी इतना ही मस्तिष्क रखता है? अथवा क्या मनुष्य का भी इतना ही उत्तरदायित्व होता है? या कुछ इससे भी आगे होता है?

बन्धुओ! मनुष्य का उत्तरदायित्व इससे अधिक है। मनुष्य जीवन की कुछ विशेषताएँ हैं। केवल सन्तान को बड़ी कर देना और उन्हें व्यापार आदि में लगा देना ही पर्याप्त नहीं होता। केवल पेट भरने की कला सिखा देना ही काफी नहीं है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी सन्तान को पेट भरने की कला के अतिरिक्त समुचित आध्यात्मिक विज्ञान से भी परिचित कराये ताकि उनका जीवन शान्तिमय बना रहे और वे पूर्ण मुक्ति की ओर निरन्तर आगे बढ़ सकें।

तो भीम नरेश ने सर्वथा उचित विचार ही किया। वे सोचने लगे कि मेरा उत्तरदायित्व यह है कि मैं इस योग्य कन्या के लिए योग्य वर की तलाश करूँ। यह मंगलमुखी कन्या है, इसके दर्शन से लोगों के मन में आनन्द का सागर हिलोरें लेने लगता है। यदि मैं इसका सम्बन्ध केवल अपनी ही इच्छा एवं बुद्धि से कर देता हूँ तो कहीं भूल हो सकती है। अतः मुझे सब लोगों को सलाह लेकर यह देखना चाहिए कि इस कन्या का वर इसके अनुकूल हो। वह यदि नास्तिक, स्वच्छन्द और उद्दण्ड निकल जाय तो मेरी कन्या का जीवन ही विनष्ट हो जाय। उसके जीवन में से सुख समाप्त हो जाय तथा आर्त और रौद्र ध्यान ही उसके भाग्य में शेष रह जाये। ऐसा विवेकपूर्ण विचार करके राजा ने अपने परिजनों तथा मन्त्रिगणों को बुलाया।

सभा जुड़ जाने पर राजा ने सबके सामने अपना विचार रखा—'मन्त्रिवर! राजकन्या विवाह के योग्य हो गई है। उसके विवाह का गुरुतर

भार इस लोगों के सामने आ गया है। मैं चाहता हूँ कि आप सब लोगों की सलाह से इसका विवाह किसी योग्य, गुणवान वर के साथ किया जाय। यह निर्णय हमें बड़ी सावधानीपूर्वक करना है। ऐसा न हो कि तनिक सी असावधानी से कन्या का जीवन आर्त और रौद्र ध्यान में बह जाय। अतः आप लोग इस विषय में अपने विचार मुझे बताइये।'

राजा की बात सुनकर मन्त्री ने कहा—'महाराज ! आप धन्य हैं। ऐसा विवेकपूर्ण विचार बहुत कम लोग किया करते हैं। आपका सोचना दीर्घकालीन है। आपने उचित ही किया कि हम लोगों को बुलाकर यह विषय प्रस्तुत किया। इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके हमें वर के क्या-क्या गुण होने चाहिए, इस बिन्दु पर पूर्ण निर्णय लेना चाहिए। यदि इसका चिन्तन हमने नहीं किया और सिद्धान्त की दृष्टि से हमने वर के गुणों और लक्षणों पर ध्यान नहीं दिया तो भविष्य में सुख नहीं मिल सकेगा। नीति में कहा गया है कि—

"कुलं शीलं च सनाथता च··· ·····।"

तो सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि वर का कुल कैसा हो? उसकी जाति कैसी हो? जाति और कुल को देखकर ही उसके विषय में आगे विचार को बढ़ाना चाहिए। जाति और कुल मनुष्य के जीवन में बहुत महत्व रखते हैं।

बन्धुओ ! स्वर्गीय आचार्य श्री जी महाराज जाति तथा कुल के विषय में फरमाया करते थे कि एक सेठ अपने लड़के का विवाह किसी जाति कुलवान घराने की गुणवान लड़की से करना चाहता था। किन्तु सेठानी जरा पैसे की लोभी थी। वह कहा करती थी कि अमुक सेठ की लड़की बड़ी गुणवान, रूपवान है और उनके पास पैसा भी बहुत है। अतः यदि उनके यहाँ सम्बन्ध होगा तो पैसा भी बहुत आयेगा। सेठानी की यह बात सुनकर सेठ ने कहा कि तेरी तो मति भ्रष्ट हो गई है। तू तो बस पैसे को ही देखती है। अरे पैसे से पहले जाति और कुल को देखना चाहिए। सेठ की बात सुनकर सेठानी ने कहा कि आप कैसी बातें करते हो ? अरे, पैसे से सब काम चलता है। जाति-वाति में क्या रखा है ? सेठ नहीं माना और कहने लगा कि यह विचार ठीक नहीं है। सेठानी ने पूछा—'अच्छा, बताइये कि उस लड़की में क्या दूषण है ?'

सेठ बताने लगा—देखो, उसके कुल में तो कोई दूषण नहीं है। किन्तु जाति में दूषण है।' सेठानी द्वारा वह दूषण पूछे जाने पर सेठ ने बताया कि उस लड़की की नानी की नानी ने चूहा मारा था। यह सुनकर सेठानी ने कहा कि पतिदेव ! आप भी विचित्र हैं। भला आप कहाँ से कहाँ पहुँच गए ? उसकी नानी की नानी ने चूहा मारा तो उससे क्या हो गया ? तब सेठ ने कहा कि तुम मानो अथवा न मानो। किन्तु उसके संस्कार आए बिना नहीं रहते। ये संस्कार पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक, बल्कि जन्म-जन्मान्तर तक चलते हैं।

किन्तु सेठानी भी जिद्दी थी और पैसे के लालच को सरलता से नहीं छोड़ सकती थी। भाइयो ! आप लोगों को भी अनुभव होगा कि स्त्रियों का हठ बड़ा प्रबल होता है। आपके घर की कम्पनी सरकार जब कोई अल्टीमेटम दे देती है तो फिर आप भी वैसा ही नाचने लगते हैं। सो हुआ यह कि सेठ की इच्छा के विरुद्ध उसके लड़के का विवाह उसी लड़की से कर दिया गया जिसके लिए सेठानी ने जिद्द पकड़ रखी थी।

वह कन्या यद्यपि अपने आप में अच्छी, गुणवान और चारित्र्य-सम्पन्न थी, परन्तु उसके जातीय संस्कार अच्छे नहीं थे। उसमें हिंसक वृत्ति के संस्कार

थे। एक बार ऐसा प्रसंग हुआ कि बाहरी सम्बन्धियों का निमन्त्रण मिलने पर सेठ को परिवार सहित बाहर जाना था। अब वह सोचने लगा कि घर सूना करके जाना तो ठीक नहीं है। पीछे से जाने क्या हो ? वह इसी चिन्ता में था कि उसकी यह चिन्ता देखकर नववधू ने कहा—'आप लोग सम्बन्धियों के यहाँ जाइये। मैं घर पर रह जाऊँगी। आप घर की चिन्ता न करें।'

इस प्रकार बहू ने घर की जिम्मेदारी लेली और बाकी सब लोग बाहर चले गए। पीछे से क्या हुआ कि सेठ के कोई दूसरे सम्बन्धी उधर आ निकले। उस समय यातायात के साधन इतने सुगम और तीव्र तो थे नहीं कि जब चाहें तभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाएँ। उस समय तो पैदल या बलगाड़ी में ही यात्रा करनी पड़ती थी। तो उस आगन्तुक सम्बन्धी ने विचार किया कि इतनी दूर आया ही हूँ, तो अपने सम्बन्धी सेठ से मिलता चलूं। यह विचार करके वह सेठ से मिलने उसके घर पर गया। घर पर अकेली बहू थी। उसने बताया कि सब लोग तो बाहर गए हुए हैं। तो उस आगन्तुक ने कहा कि ठीक है, मैं मिलने आ गया था। तुम सेठजी से, जब वे आए तो ऐसी सूचना दे देना। और सब कुशल-मंगल कह देना। मैं सहज ही इधर से जाते हुए मिलने आ गया था।

इतना कहकर वह जाने लगा। लेकिन बहू ने देखा कि आगन्तुक सम्बन्धी आभूपणों से लदा हुआ है और आभूपण बड़े सुन्दर और मूल्यवान हैं। सो उसके मन में आभूपणों का लोभ जागा। अतः उसने कहा—'और लोग घर पर नहीं हैं तो क्या हुआ, मैं तो यही हूँ। आप हमारे सम्बन्धी हैं। मैं आपको भोजन किए बगैर नहीं जाने दूंगी। अब थोड़ा ठहरकर भोजन करके ही जाइये।'

इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं थी। अस्तु, वह आगन्तुक सम्बन्धी भोजन के लिए ठहर गया। बहू ने बढ़िया भोजन बनाया। किन्तु उसके मन में तो विकार समा चुका था। अतः उसने मिष्ठान्न में विप मिला दिया।

वेचारे परदेसी को इन सब बातों का क्या पता ? उसने भरपेट भोजन कर लिया ।

अब भोजन के वाद तुरन्त ही उसकी तवियत विगड़ने लगी, क्योंकि विप ने अपना प्रभाव दिखाना आरम्भ कर दिया था । वहू ने कहा—'आप थके हुए हैं । थोड़ा आराम कर लीजिए और कोई वात नहीं है । सो वह वेचारा विस्तर पर लेट गया । और ऐसा लेटा कि फिर कभी नहीं उठ सका । उसकी यह लीला विप के कारण समाप्त हो गई ।

वहू ने चुपचाप उसके सारे आभूपण उतार लिए और उन्हें छिपा लिया। उसके वाद उसने आँगन में एक गड्ढा खोदकर शव को एक पिटारी में वन्द करके, उसमें गाड़ दिया और ऊपर से मिट्टी वापिस वरावर कर दी ।

थोड़े समय वाद सेठ भी घर लौट आया और सव काम यथावत चलने लगा ।

किन्तु वह आगन्तुक और अब दिवंगत सम्वन्धी जव घर नहीं पहुँचा तो उसके परिवार वालों को चिन्ता हुई । वे उसकी खोज-बीन करने लगे। खोजते-खोजते वे सेठ के गाँव में पहुँचे और वहाँ लोगों से उसके विषय में पूछताछ की । लोगों ने वताया कि वह यहाँ आया तो अवश्य था किन्तु जाते हुए किसी ने नहीं देखा ।

तब सेठ के यहाँ पूछताछ हुई । सेठ ने अपनी वहू से पूछा कि—'बहू ! क्या अपने घर पर कोई आया था ?' वहू ने साफ झूठ बोल दिया कि यहाँ तो कोई नहीं आया । उसे कुछ भी पता नहीं ।

लेकिन भाइयो ! पाप कभी छिपता नहीं । पुलिस ने खोज की । सेठ के घर के भीतर से कुछ दुर्गन्ध भी आ रही थी । उसके आधार पर पुलिस ने लाश का पता लगा लिया, आभूषण भी सेठ के घर में से बरामद कर लिए और वहू के कारनामों की सारी कलई खुल गई ।

जब वहू को जेल में ले जाया जा रहा था तब सेठ ने सेठानी से कहा— 'देखा तूने ? मैंने पहिले ही कहा था कि यह कन्या अच्छे संस्कारों वाली नहीं है। इसकी नानी की नानी ने चूहा मारा था। वह हिंसक संस्कार इसमें भी आया कि नहीं ? व्यर्थ ही तूने मेरे लड़के का जीवन बरबाद कर दिया और मेरे घर की प्रतिष्ठा पर सदा-सदा के लिए एक अमिट कलंक लगवा दिया !'

बन्धुओ ! मैं आपसे कह रहा था कि ये हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के संस्कार, लालच के संस्कार मातृपक्ष या पितृपक्ष में हों तो वह जातीय संस्कार अच्छे नहीं होते। उनका प्रभाव कन्या या पुत्र में आए बिना नहीं रहता। अतः जाति एवं कुल सम्पन्नता होनी चाहिए। हमें कोई भी सम्बन्ध करने से पूर्व इन सभी बातों का पूरा विचार करना चाहिए। आप अपने आध्यात्मिक धरातल की शुद्धता के लिए बैठे हैं तो इन सब बातों पर आपको विचार करना ही चाहिए।

आप कहेंगे कि महाराज ! हम तो गृहस्थाश्रम की दृष्टि से ये सम्बन्ध करते हैं। तो मैं आपसे कहूँगा कि आप इन कन्याओं का सम्बन्ध तो करते हैं, किन्तु एक कन्या मैं आप सबके पास देखता हूँ, कोई भी भाई उस कन्या से रहित नहीं। क्या आप जानते हैं कि वह कन्या कौनसी है ?—

वह कन्या है—आपकी बुद्धि। वह रुक्मिणीबाई तो कुन्दनपुर में थी, और पाँच भाइयों के बीच में एक बहिन थी। किन्तु यह आपकी बुद्धि रूपी रुक्मिणी—कन्या आपकी पाँच इन्द्रियों के बीच में है। कहिए, इसका सम्बन्ध आप किससे करना चाहेंगे ?

भाइयो ! यदि आप अपनी इस बुद्धि रूपी कन्या का सम्बन्ध आध्यात्मिक दृष्टि से करना सीख लेंगे तो आप शान्ति के सोपान को अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। इसके विपरीत यदि आप इसका सम्बन्ध संसार के नाशमान पदार्थों से जोड़ेंगे तो आपकी भी वही स्थिति होगी जो पैसे के लिए अपने लड़के का

सम्बन्ध करने वाले सेठ की हुई। उसकी बहू को जेलखाने में जाना पड़ा। यदि आप समय रहते नहीं चेते और आपने सांसारिक पदार्थों से अपनी बुद्धि को जोड़ दिया, तो आपके लिए भी चौरासी लाख जीव योनियों का जेलखाना तैयार है।

अतः बन्धुओ ! स्व और पर का ज्ञान लेकर चलिए। महाराज भीम नरेश का प्रसंग चल रहा है। आज जाति एवं कुल के विषय में विचार हुआ, आगे अन्य गुणों की चर्चा होगी। आप भी अपनी दृष्टि भीतर करिए और गुणों को पहिचानिए।

११ | स्वाध्याय का महत्व

"असंखयं जीविय मा पमायए"

—शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना—

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती..............।"

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शान्ति के स्वामी भगवान शान्तिनाथ के चरणों में आन्तरिक भावना का द्योतन इन प्रार्थना की पंक्तियों द्वारा हो रहा है। मनुष्य के जीवन में उतार और चढ़ाव आते ही रहते हैं । विचारों के झूले पर झूलता हुआ वह कभी तो आकाश की अनन्त ऊँचाइयों पर पहुँच जाता है और कभी उसका गमन पाताल की गहराइयों में भी होता है। इस सारी गतिविधि के दौरान मानसिक स्थिति का सन्तुलन ठीक तरह से न होने के कारण वह शान्ति से बहुत दूर चला जाता है। वास्तविक स्थिति का ज्ञान उसकी पकड़ से छूट जाता है। बाहरी दृष्टि से सुख-सुविधा की खोज में वह कभी अपोलों में बैठकर तथाकथित चन्द्रलोक में पहुँच जाता है, कभी मंगल-ग्रह की ओर प्रयाण करता है तथा कभी समुद्र की गहराइयों में भी उतर जाता है। किन्तु शान्ति और तुष्टि उससे फिर भी दूर बनी रहती हैं। क्योंकि सुख-सुविधा के साधन न तो कहीं ऊपर के लोक में उपलब्ध हैं और न ही समुद्र के तल में। इस प्रकार कामनाओं की मृगतृष्णा में मानव निरन्तर इधर से उधर भटकता रहता है।

इस प्रकार शान्ति और सुख की खोज चल रही है। जिनके पास यन्त्रों के साधन हैं, वे उनकी सहायता लेकर ऊपर और नीचे चले जाते हैं. तथा जिनको वे साधन उपलब्ध नहीं हैं, वे अपने मन के यान पर बैठकर ही कल्पना के सहारे इधर-उधर जाते हैं। किन्तु कुल मिलाकर मानव दुर्गति के चक्र में

फँसा हुआ है। यह मानव जीवन, यह मानव शरीर कितना महत्वपूर्ण है, इसका तनिक भी विचार आज मनुष्य को नहीं है। यही उसकी दुर्गति का कारण है।

इस प्रकार की दुर्गति से वचने के लिए, मनुष्य अशान्ति से शान्ति की ओर जाने के लिए, मनुष्य को महापुरुषों की संगति करनी चाहिए। कहा गया है—"**सच्चं खु भगवं**"—सत्य ही भगवान है। तो इस सत्य के समीप मनुष्य को पहुँचना चाहिए। ऐसे सत्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को ऐसे गुरु की शरण लेनी चाहिए जो उसे इस सत्य का दिग्दर्शन करा सके। गुरु की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार ने कहा है—

"**समग्ग विवज्जना**..............।"

इस गाथा का अर्थ आपके सामने कुछ समय से चल रहा है। सूक्ष्मतर अभिप्राय को छोड़कर स्थूल व्याख्या मैं आपके सामने कर रहा हूँ, ताकि आप उसे हृदयंगम कर सकें। तो इस गाथा में बताया गया है कि जो गुरु स्वाध्याय की स्थिति के साथ अपने मन, वचन और काया की स्थिति को सन्तुलित रखता है और एकान्त सेवन करता है, उसे सत्य के मार्ग की उपलब्धि होती है और वही गुरु अन्य लोगों को सन्मार्ग वता सकता है।

एकान्त-सेवन का अभिप्राय यह नहीं है कि व्यक्ति आवश्यक रूप से किसी गुफा में जाकर ही बैठ जाय। ऐसे स्थान पर जाने के बाद भी वदि वह तन्मयता से अपने मन की स्थिति को नहीं टटोल सकता तो वह एकान्त निरर्थक है। उस गुफा में बैठने मात्र से उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार से एक व्यक्ति अनेक लोगों के बीच में रहता हुआ भी एकान्त की अनुभूति कर सकता है। तो एकान्त सेवन की स्थिति स्थान की दृष्टि से नहीं, मन की दृष्टि से है। मन में अनेक प्रकार के विचार चला करते हैं, कई तूफान उठते रहते हैं। किन्तु व्यक्ति में यह विशेषता होनी चाहिए कि वह उन विचारों और तूफानों पर विजय प्राप्त करता हुआ अपने मन को जीवन-सत्य ी ओर लगाए रख सके। इस प्रकार से व्यक्ति वहुत से लोगों के बीच रहता

शक्ति से ऐसा नहीं कर रहे हैं। इन्हें संचालित करने वाला व्यक्ति प्रयोगशाला में बैठा है। अस्तु, जीवन में मोह द्वारा परिचालित होकर मनुष्य के रूप में जो बद्ध ईश्वर स्थित है वही इन सब क्रियाओं को कर रहा है।

कुंभकार के रूप में जो बद्ध ईश्वर है वह घड़े बनाता है। इसी प्रकार ये जो विशाल कार्य पहाड़—पर्वत आदि दिखाई देते हैं, वे भी सब बद्ध ईश्वर के ही काम हैं। आप विचार कर सकते हैं कि ये मकान जो बनाए जाते हैं। इनके बारे में तो फिर भी समझ में आ सकता है कि ये मनुष्य ने बनाए हैं, लेकिन इतने बड़े इन पहाड़ों और पर्वतों को आखिर किस कारीगर ने बनाए हैं ?

इस बात को समझने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बद्ध ईश्वर का रूप एक ही नहीं है। एकेन्द्रिय जाति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव, जो कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में रहे हुए हैं, वे सभी बद्ध ईश्वर का रूप है। पृथ्वीपिंड को बद्ध ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। एक पर्वत जो हमें दिखाई देता है वह पृथ्वीकाय का ही रूप है, वही बद्ध ईश्वर का रूप यह पृथ्वी तथा पर्वत बनकर हमें दिखाई देता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में चैतन्य आत्मा बद्ध ईश्वर के रूप में है, उसी प्रकार वही बद्ध ईश्वर सभी एकेन्द्रिय जीवों के भीतर भी स्थित है।

एक बन्धु ने प्रश्न किया कि अमुक स्थिति में यह जो कुछ इतना कार्य हो गया अथवा होता रहता है तो क्या यह भगवान से हो गया ? इसके उत्तर में यही कथन है कि यह सर्वसिद्ध ईश्वर अथवा मुक्त ईश्वर से नहीं हुआ। यह तो प्राणियों की देह में स्थित बद्ध ईश्वर द्वारा ही किया जा रहा है। मैंने आपसे कहा कि वैज्ञानिक रूप अभी सम्पूर्ण रूप में प्रकट नहीं हुआ है अभी तो और भी बड़े-बड़े चमत्कार सामने आ सकते हैं। इस स्थान पर मैं आपके जीवन का ही एक अनुभूत रूपक देता हूँ—

मनुष्य के शरीर में घाव लग जाए तो स्वयं ही उसे भरते हुए आपने देखा है कि नहीं ? चाकू अथवा अन्य किसी तीक्ष्ण वस्तु द्वारा शरीर का कोई भाग कट जाने पर धीरे-धीरे वह घाव स्वयं ही भर जाता है। क्या सभी मनुष्यों के लगे हुए घाव भर जाते हैं ? एक मनुष्य का शव पड़ा हो और

हुआ भी एकान्त सेवी बन सकता है। तो यदि मनुष्य जहाँ कहीं भी रहे, अपने मन की गुफा में प्रविष्ट होकर स्थित रहने की योग्यता उत्पन्न कर ले, तो उसे शान्ति प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति सांसारिक कोलाहलों में डूब जाता है, उन्हीं के साथ बह जाता है, वह अपने मन को एकाग्र नहीं कर पाता और शान्ति से वंचित रह जाता है।

लोग शिकायत करते हैं कि हम बहुत प्रयत्न ध्यान, जाप या साधना करने के लिए करते हैं, किन्तु हमारा मन एकाग्र नहीं हो पाता, हमारी साधना स्थिर नहीं हो पाती, हम कहीं के कहीं भटक जाते हैं। यह साधना का क्षेत्र किस प्रकार स्थिर बने इसका उपाय भी वे पूछते हैं।

इस प्रश्न के उत्तर में बड़ी-बड़ी बातें कही जाती हैं और कही जा सकती हैं। मूल बात यही है कि हमें अपने चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए और जीवन के इन समस्त व्यापारों में लगे हुए भी, लोगों के बीच में रहते हुए भी मन को एकाग्र बनाना चाहिए। चित्त तो चंचल है ही, वह तो बार-बार भौतिक पदार्थों तथा विषयों की ओर भागना चाहता है, किन्तु शान्ति के अभिलाषी व्यक्ति को बाह्य पदार्थों के साथ अन्तर जीवन की समस्याओं को मिलाकर एकाग्रता प्राप्त करनी चाहिए।

इस प्रकार मन को एकाग्र बनाने के लिए, सांसारिक विषयों से हटकर आत्मिक समस्या के समाधान हेतु स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। लोग समय के अभाव की दुहाई देते हैं और कहते हैं कि हमें समय ही नहीं मिलता। यह बात ठीक नहीं है। समय तो यदि हमारी भावना सच्ची हो तो अवश्य निकल सकता है। आखिर दूसरे-दूसरे कार्यों के लिए भी तो आप समय निकाल लेते हैं, तब थोड़े से वक्त के लिए आप स्वाध्याय क्यों नहीं कर सकते ?

वस्तुतः आप स्वाध्याय के महत्व को समझते नहीं हैं। यदि आप इसका महत्व समझें तो आपको समय अवश्य मिलेगा। कभी-कभी आप पन्द्रह मिनट का समय स्वाध्याय हेतु बंधा लेते हैं, किन्तु उसमें भी कठिनाई का अनुभव

करते हैं। तो यह बड़ी शोचनीय बात है। आप में मन को एकाग्र करने की कला तनिक भी नहीं है। उसकी ओर आपकी लगन ही नहीं है। जब आपके मन में वैसी भावना ही नहीं होगी तव मन एकाग्र कैसे होगा? मैं तो कहूँगा कि आप नियमित रूप से पुस्तक उठाइये और यदि अधिक नहीं तो एक पृष्ठ ही पढ़िए। किन्तु उसके साथ यह प्रण करके चलिए कि जो कुछ आप पढ़ रहे हैं, जो कुछ आपकी आँखें देख रही हैं और कान सुन रहे हैं वह आपके मन के भीतर तक उतरना चाहिए। जितना आप पढ़ें, उसे मुख से उच्चारित करें और उसके भावों को अन्तस्तल तक ले जायँ। जब तक एक पैरेग्राफ का भाव ठीक तरह से आपके मन में न बैठ जाय, तब तक आप आगे न बढ़ें। इस प्रकार से यदि आप अभ्यास करेंगे तो अवश्य ही सफल होंगे और स्वाध्याय की ओर आपकी रुचि बढ़ेगी।

इस प्रकार के स्वाध्याय से आपको बहुत लाभ होंगे। आप यह चिन्ता न करें कि पढ़कर आप सुनायेंगे किसको? अरे आपको किसी को कुछ नहीं सुनाना है। आपको तो स्वयं स्वाध्याय करना है और अपने मन को ही सुनाना है। एक पैरेग्राफ को हृदयंगम करने के पश्चात् आप दूसरा पढ़िए और इस प्रकार आगे वढ़ते जाइये। इस प्रकार आपकी स्मरणशक्ति वहुत वड़ी वन जायगी। छोटी-छोटी व्यर्थ की बातों को आप भूल जायेंगे और जो वातें आप याद रखना चाहते हैं, जो वातें आपको याद रखनी चाहिए, वे आपको याद रहने लगेंगी।

इस तरह आपकी स्मरण-शक्ति का भी विकास होगा और आपकी एकाग्रता भी वढ़ेगी। आप स्वयं अध्ययन करने लगेंगे और दूसरों को भी वे वातें अपनी स्मरण शक्ति से सुनाने लगेंगे। इस तरह स्मरण-शक्ति के वढ़ने से, तथा मन की एकाग्रता के वढ़ने से आपकी वाचा शक्ति भी वढ़ेगी। इसके परिणामस्वरूप आप अपने मन के भीतर भी धीरे-धीरे गहरे उतरने लगेंगे और आपकी अनुभूति तीव्र वनती चली जायगी। वह तीव्र होगी तो आप अन्य वातों को भी कह सकेंगे, अन्य अनुभवों को भी व्यक्त कर सकेंगे। इस प्रकार से आपके जीवन की अन्य समस्याएँ भी हल हो जायेंगी।

इस प्रकार स्वाध्याय करने का अभ्यास यदि आप डाल लेंगे तो आपके मन की एकाग्रता बढ़ेगी और आप सच्चे मन से एकान्त सेवन करने लग जायेंगे। ऐसी स्थिति में जब आप स्वाध्याय में रत होंगे तब आपको किसी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं होगा। उस समय यदि आपके सामने से अनेकों लोग चले जायेंगे तब भी आपकी एकाग्रता भंग नहीं होगी और आप अपने स्वाध्याय में तल्लीन हो जायेंगे। पुस्तक पाठ के विषय में जिस व्यक्ति की रुचि बन जाती है, वह मानव फिर इधर-उधर की किसी बात में उलझना पसन्द नहीं करता। उसे व्यर्थ की बातों में कोई रस नहीं रह जाता। वह तो स्वाध्याय के मधुर और शान्ति प्रदान करने वाले रस में निमग्न हो जाता है।

स्वाध्याय में रुचि जगाने तथा मन को एकाग्र बनाने के लिए ये बड़े उपाय हैं। यदि इनको साध लिया जाय तो फिर सूक्ष्म उपाय भी और बताये जा सकते हैं। जिस प्रकार से एक बालक वर्णमाला सीखने से आरम्भ करता है और आगे बढ़ता है, उसी प्रकार से इस क्षेत्र में भी समझना चाहिए। मन की एकाग्रता साध लेने के पश्चात् आगे और भी आन्तरिक अनुसन्धान की ओर बढ़ा जा सकता है। मार्ग में आने वाली बाधाओं का हल ढूंढ़ा जा सकता है। जो बात कठिनाई की हो, वह यदि याद न रहे तो उसे डायरी में नोट किया जा सकता है और उचित समय पर योग्य व्यक्ति से उसका समाधान ढूंढ़ा जा सकता है।

तो मुख्य बात तो यह है कि मन में दृढ़ संकल्प होना चाहिए, तथा भीतर के कोलाहल को समझना चाहिए। मन यदि संकल्पवान हो तथा एकाग्र बने तो इस कोलाहल को समझा जा सकता है। आप इस समय शान्ति से बैठे हैं किन्तु इसी समय आपके भीतर कोलाहल हो सकता है। आप उसे शान्त नहीं कर पाते हैं। तो जब तक वह भीतर का कोलाहल शान्त नहीं होता, तब तक स्वाध्याय में भी मन नहीं लग पायेगा।

भीतर का यह कोलाहल क्या है? यह क्यों उत्पन्न होता है? कौन इसे

उत्पन्न करता है। यह किस प्रकार शान्त हो सकता है ? इन प्रश्नों पर विचार करना चाहिए।

मन के भीतर इस प्रकार के कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं जो आपकी आत्मा को नचाते रहते हैं। जिस प्रकार असंयमित खान-पान से मनुष्य के पेट के भीतर कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं और वे उसकी जठराग्नि को मन्द कर देते हैं तथा अन्न का पचना उससे बन्द हो जाता है, जोकि अनेक प्रकार के रोगों का कारण बनता है। उसी प्रकार से मानसिक स्थिति में भी गन्दे विचारों रूपी कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। वस्तुतः वहाँ कीड़े नहीं होते, किन्तु उपमा वाचक रूप में बुरे विचारों रूपी कीड़े वहाँ पैदा हो जाते हैं। वे कीड़े आत्मा को नचाते रहते हैं, भटकाते रहते हैं और रोगग्रस्त करके घोर कष्ट देते हैं। जीव को वे आत्मस्वरूप की ओर नहीं जाने देते।

तो जिस प्रकार से पेट में पड़े हुए कीड़ों को नष्ट करने हेतु उपचार करना पड़ता है, डाक्टर या वैद्य से इलाज लेना पड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य के आत्मविकास को रोकने वाले बुरे एवं व्यर्थ के विचारों को समाप्त करने हेतु औषधि का सेवन आवश्यक है। वह औषधि है—एकान्त सेवन, एकाग्र प्रक्रिया और गुरु के समीप बैठकर उसको जीवन में साकार रूप देने का प्रयत्न करना। इस प्रकार के आचरण द्वारा वे हानिकर कीड़े नष्ट हो सकते हैं।

पूर्ण आरोग्य हमारा उद्देश्य है। शारीरिक आरोग्य हमें डाक्टर और वैद्य प्रदान करते हैं तो मानसिक आरोग्य प्रदान करने वाले हैं योग्य गुरु। तथा औषधि है स्वाध्याय एवं एकान्त सेवन। इस प्रकार मानसिक आरोग्य हेतु, मानसिक विकारों का शमन करने के लिए हमें अपने जीवन में उपरोक्त चिकित्सा करनी चाहिए। यदि हम यह करेंगे तो इसमें साहजिक योग साधना कार्य करेगी। यह मानसिक चिकित्सा करने के लिए भारतीय संस्कृति में हठयोग, राजयोग, कर्मयोग आदि आठ योग बताये गये हैं। किन्तु राजयोग, हटयोग आदि में पड़ने पर अत्यन्त सावधानी की भी आवश्यकता है। क्योंकि उसमें खतरा भी बहुत है।

शारीरिक रोग की चिकित्सा करते समय डाक्टर या वैद्य अनेक प्रकार की दवाइयाँ देते हैं। उनका उद्देश्य यह होता है कि शरीर को हानि करने वाले कीटाणु नष्ट हों, तथा रक्त को शुद्ध करने वाले कीटाणु बढ़ें। वैद्य लोग वात-पित्त-कफ आदि का विचार करके उपचार करते हैं। तो यदि एक दवा कारगर नहीं होती तो दूसरी दवा दी जाती है। किन्तु यदि डाक्टर या वैद्य होशियार न हो, ज्ञानी न हो, तो मरीज को खतरा भी हो जाता है। अनेक प्रकार के दूसरे रोग उसकी दवा से उत्पन्न हो सकते हैं।

उसी प्रकार से हठयोग, राजयोग, त्राटक इत्यादि में भी वही खतरे की स्थिति रहती है। जरा सी भी भूल हो तो मानसिक व्याधि दूर होने के स्थान पर अधिक बढ़ भी सकती है। किन्तु साहजिक योग प्राकृतिक साधना है। और साहजिक साधना स्वाध्याय और एकान्त सेवन की साधना है। इस साधना में कोई खतरा नहीं है। इस साधना द्वारा मानसिक झंझावातों, मानसिक कोलाहलों और मानसिक विकारों से मुक्ति पाई जा सकती है। इस प्रकार आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

जो आत्मा अपने सहज स्वरूप को प्राप्त करने में सक्षम हो जाती है, उसे इन कर्मों के विकारों की बीमारी नहीं लग पायेगी तथा विकारों की बीमारी जिन वैभाविक भावों को लग जाती है तो वह भी दूर हो जाती है। ऐसी स्थिति में ही मनुष्य की आत्मा शान्ति के क्षणों का अनुभव कर पायेगी। इन शान्ति के क्षणों में यदि मनुष्य चाहे तो अपना आत्म-अनुसन्धान जारी रख सकता है।

इस स्थिति तक जो मनुष्य पहुँच जाता है वह सच्चा एकान्त सेवन कर सकता है। फिर चाहे वह गाजे-बाजों के बीच में बैठा हुआ हो, किन्तु उसकी साधना बलवती होती है और शुद्ध भाव से वह एकाग्र होकर रहता है।

प्रोफेसर भंसाली का नाम आप लोगों में से बहुतों ने सुन रखा होगा। उनके मन में तीव्र जिज्ञासा जागृत हुई। उन्होंने सोचा कि शान्ति किस प्रकार मिले ? और वे शान्ति की खोज में चल पड़े। शान्ति की खोज में उन्होंने

कालेज की नौकरी छोड़ी, परिवार को छोड़ा और जंगल में निकल गये। अनेक बस्तियों में वे घूमते फिरें। उन्होंने सोचा कि बोलने से अशान्ति होती है, तो उन्होंने एक लोहे का तार लेकर अपने ऊपर और नीचे के दोनों ओठों को सी लिया। अब उन्हें भोजन का ग्रास लेने में भी कठिनाई होने लगी। तो उन्होंने आटा, पानी, साग सब इकट्ठे पीसकर काम चलाना आरम्भ किया। कई लोग उन्हें पागल समझने लगे और उनका मजाक उड़ाने लगे। किन्तु उन्हें तो जिज्ञासा जगी थी, सो वे किसी प्रकार की चिन्ता न करके अपने प्रयोग करते चले गये। यहाँ तक कि उन्होंने आटा छोड़कर केवल नीम की पत्तियाँ चबाकर ही रहना प्रारम्भ कर दिया।

एक बार प्रो० भंसाली महात्माजी के पास पहुँचे। महात्माजी ने पूछा—'प्रोफेसर भंसाली ! तुम शान्ति की खोज में हो। इस प्रकार की साधना तुम कर रहे हो। परन्तु यह तो बताओ कि तुम्हारे मन की एकाग्रता का क्या हाल है ? तब प्रो० भंसाली ने उत्तर दिया कि—'महात्माजी ! मैं अपने मन को एकाग्र कर सकता हूँ। जब मैं अपने मन को केन्द्रित कर देता हूँ तो मेरे आस-पास चाहे जितना भी शोर हो, गाजे-बाजे चाहे जितनी जोर से बजें लेकिन उससे मेरा ध्यान तनिक भी विचलित नहीं होता। तो मन की एकाग्रता तो मैंने इतनी प्राप्त कर ली, लेकिन मन अभी सधा नहीं है।'

बन्धुओ ! मन की एकाग्रता की शक्ति प्राप्त होने से मन सध ही जाता हो, ऐसी बात नहीं है। एकाग्रता करने वाले तो बहुत से मिल जायेंगे, किन्तु जिनका मन पूर्णरूप से सध गया हो ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे। आप लोग भी कभी-कभी अपनी रुचि के विषय में जो बात हो, उसमें बहुत एकाग्र हो जाते हो और आस-पास की दुनियाँ को भूल जाते हो—जैसे कि रोकड़ खताने का प्रसंग हो और हिसाब बराबर मिल नहीं रहा हो और आपको इनकम-टैक्स वालों के आने की चिन्ता हो, तो आप सब कुछ भूलकर अपनी रोकड़ में डूब जाते हो, पूर्ण रूप से एकाग्र हो जाते हो। यदि आपको उस समय कोई आवाज भी लगाये तो आप नहीं सुनोगे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आपका मन उतना सध गया है। या आपके चित्त की शुद्धता हो गई है।

एक डाक्टर भी ऑपरेशन करते समय एकदम एकाग्र हो जाता है और ऑपरेशन हो जाने के बाद सब कुछ भूल जाता है। किन्तु इससे ऐसा नहीं माना जा सकता कि उसके चित्त की शुद्धि हो गई है।

अस्तु, इन साधनों से मन की एकाग्रता तो साधी जा सकती है, परन्तु वह एकाग्रता ही सब कुछ नहीं होती। वही सब कुछ बन जायगी ऐसा नहीं मानना चाहिए। इस एकाग्रता की प्राप्ति करके मन के रोगों को धोने का प्रयत्न करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति शुद्ध अवलंबन का सहारा लेता है, वह अपने विकारों को धोने में सफल होता है तथा अपनी स्थिति को वह ठीक बना सकता है। लक्ष्य स्थिर होना चाहिए। जब तक एक लक्ष्य स्थिर नहीं किया जाता, तब तक कितनी भी एकाग्रता की जाए किन्तु उससे कोई लाभ नहीं होता। उस एकाग्रता से साधन तो जुटाए जा सकते हैं, लेकिन आत्म-स्वरूप की शुद्धि उससे नहीं आ सकती। प्रोफेसर भंसाली ने भी महात्माजी को बताया कि एकाग्रता तो उनको प्राप्त हो गई, किन्तु जिह्वा का संयम अभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। मन अभी सधा नहीं। स्वाद लेने की इच्छा अभी मरी नहीं। वे संस्कार अभी दूर नहीं हुए।

अतः जब तक मन इन्द्रियों के वश में होकर चलता है, तब तक मन आत्मा के परमानन्द का स्वाद प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह तो पुद्-गलानंदी बना हुआ है। यह बात आत्मा के लिए हितावह नहीं है। तो जब प्रो० भंसाली ने कहा कि मैं अपनी स्वादेन्द्रिय को जीत नहीं पाया हूँ तब महात्माजी ने कहा कि भाई, आप तो नीम के पत्ते खाते हैं, तब यह बात कैसे कहते हैं कि आपने स्वादेन्द्रियों को नहीं जीता ? लोग तो नीम की पत्तियाँ खाना पसन्द नहीं करते। तब प्रो० भंसाली ने कहा कि मैं नीम के पत्ते खाता अवश्य हूँ, किन्तु मन में इच्छा रहती है कि कड़वे नीम के पत्ते न मिलें और मीठे नीम के पत्ते मिलें। तो इस प्रकार एकाग्रता तो उन्हें प्राप्त हुई, किन्तु स्वादेन्द्रिय पर विजय प्राप्त नहीं हुई।

वन्धुओ ! मैं जब छत्तीसगढ़ की ओर गया तो आश्रम के वाहर ठहरने का प्रसंग आया। और जब प्रो० भंसाली को सूचना मिली तो उन्होंने सन्देश भेजा कि मैं अस्वस्थ हूँ। स्वयं उपस्थित होने में असमर्थ हूँ। अत: महाराज! आप कृपा करके दर्शन दें। तो मैं वहाँ पहुँचा। मैंने देखा कि उनके विपय में मैंने जो-जो बातें सुन रखी थीं वे सव ठीक थीं और उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं था। यह एक वहुत वड़ा गुण व्यक्ति में होना चाहिए कि उसकी कथनी और करनी में अन्तर न हो।

तो मैं आपको बता रहा था कि अपने मन को साधने के लिए यदि आप एकान्त सेवन करेंगे तो आपको किसी गुफा या जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसके लिए तो अपनी आत्मा की गुफा में प्रवेश करना चाहिए। ऐसी स्थिति स्वाध्याय से वन सकती है। जब ऐसी स्थिति वन जायगी तव आप अपने मन के भीतर के कोलाहल को समझ पाएँगे और प्रयत्न करके उसे त्याग भी सकेंगे। जिस प्रकार अनाज में से कंकर बीन-बीनकर फेंक दिए जाते हैं और अनाज को शुद्ध बना लिया जाता है, उसी प्रकार मन के भीतर के कोलाहल के कारणों को एक-एक कर विनष्ट किया जा सकता है। मन का धरातल इस प्रकार से शुद्ध वन जाता है।

किन्तु यह स्थिति तभी आ सकती है जबकि आपका ध्यान सद्गुणों की ओर केन्द्रित हो। ऐसा सद्गुण-ग्रहण का लक्ष्य जव वन जाता है तव मनुष्य चाहे गृहस्थाश्रम में हो, चाहे सामाजिक क्षेत्र में कार्य कर रहा हो अथवा राष्ट्रीय या पूर्ण विश्व स्तर पर कार्यरत हो, किन्तु लक्ष्य स्थिर हो जाने पर वह सभी स्थानों पर अपने जीवन में गुरु देखता है और आध्यात्मिक रोगों को हटाकर आत्मा को ज्योति जगाने में सफल हो जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति शिशुपाल जैसे भाव रखता है, वह अपने जीवन में आत्म-ज्योति जगाने में कभी सफल नहीं हो सकता। ऐसी ही बात चरित्र की दृष्टि से भी माननी चाहिए।

वन्धुओ ! जो व्यक्ति ऐसा लक्ष्य स्थिर कर लेता है और अपने ध्यान को गुणों पर केन्द्रित कर देता है और उसकी प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्न करता

रहता है, वह अपने जीवन की सारी विषम स्थितियों को एक ही प्रकार से समाहित कर पाता है। प्रत्येक बात का विचार उसे गुणों की दृष्टि से ही करना चाहिए। गुणों का गज बनाकर ही प्रत्येक वस्तु को नापना चाहिए। शरीर, वस्त्राभूषण अथवा सम्पत्ति इत्यादि की दृष्टि से विचार नहीं करना चाहिए। ये वस्तुएँ तो गौण हैं, प्रमुख वस्तु तो गुण ही हैं। जो भी व्यक्ति ऐसा पैमाना बनाकर चलता है वह अपने जीवन में सफल होता है।

तो महाराज भीम नरेश की सभा में संसार के क्षेत्र का प्रश्न उपस्थित हुआ था तथा राजकन्या के लिए योग्य वर की खोज का प्रसंग चल रहा था। इस प्रसंग में वर में क्या-क्या गुण होने चाहिए, ऐसा विचार किया जा रहा था। राजा के मन्त्री ने एक बड़ा उद्देश्य सभा के समक्ष रख दिया था कि वर में क्या-क्या गुण होने चाहिए ? इसका पूर्ण विचार करके ही हमें राजकन्या के लिए वर निश्चित करना चाहिए, ताकि गुणवान पुरुष के साथ ही राज-कन्या का सम्बन्ध हो और उनका जीवन, उनका लोक और परलोक, आनन्द-मय बने। तो कल एक-श्लोक रखा गया था और उसमें से एक-दो गुणों पर ही विचार हो सका था। श्लोक इस प्रकार था—

"कुलं च शीलं च.................. वरे गुणा सप्त विलोकनीयाः।"

कुल एवं जाति के विषय में कल चर्चा हुई थी। उसके साथ ही शील के गुण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। शील की व्याख्या आपके सामने बड़े रूप में आ रही है। इसका सम्बन्ध सीधा ब्रह्मचर्य से अंकित किया जाता है। जिसने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया हुआ है वह शील के गुणवाला कहलाता है। विवाहित होने के पश्चात् भी यदि यह व्रत लिया जाता है तो वह प्रशंसनीय है तथा विवाह से पूर्व तो प्रत्येक व्यक्ति को शील व्रत धारण करके रहना ही चाहिए।

भारतवर्ष में प्राचीन समय में और अभी भी कुछ समय पूर्व तक गुरुकुलों में, आश्रमों में छात्रों को शिक्षा दी जाती थी। आयु के पच्चीस वर्ष तक वहाँ रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने का प्रावधान था। वहाँ के शिक्षक भी शील और चरित्र में निष्ठावान होते थे और छात्र भी उनका अनुसरण पूर्ण रूपेण करते थे। तो उन गुरुकुलों से जो छात्र स्नातक

होकर निकलते थे वे समाज में शुद्ध हीरों की भाँति दमकते थे और उनके उज्ज्वल चारित्रिक प्रकाश से समाज भी आलोकित होता था। किन्तु आज इन गुरुकुलों तथा उस शिक्षा प्रणाली का नाममात्र शेष रह गया है। अब तो स्कूल तथा कालेजों में जो शिक्षा प्राप्त करके छात्र और छात्राएँ समाज में आते हैं, उसे देख-देखकर घोर निराशा तथा गहन आत्म-पीड़ा ही होती है।

तो बन्धुओ ! हमें गुणों की तलाश है। ऐसे व्यक्तियों की तलाश है जिनमें कि एक सच्चे मानव के गुण विद्यमान हों। महाराज भीम नरेश की कथा के आधार से हम यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि एक योग्य पुरुष अथवा महिला में, अर्थात् वर में और वधू में क्या-क्या गुण होने चाहिए। हमने विचार किया है कि सत्ता और सम्पत्ति पर ध्यान न देकर जब वर की तलाश की जाय तो उसके गुणों पर ही ध्यान देना चाहिए। चरित्र को ही प्रमुखता देनी चाहिए। यदि उत्तम चरित्र ही नहीं है तो शेष दूसरी बातें निरर्थक और आत्मघाती हैं।

अतः कन्या के लिए वर का निश्चय करते समय यह देखना चाहिए कि उसका चरित्र उज्ज्वल हो। वह कुसंगति में पड़ा हुआ न हो। दृढ़ता के साथ इन गुणों को देखकर ही कन्या का सम्बन्ध किसी पुरुष से करना चाहिए। यदि हमारी बहिनें इस बात का निश्चय कर ले तो समाज में तथा संसार में परिवर्तन आ सकता है। किन्तु ऐसा निश्चय लेकर कौन चल सकता है ? यह निश्चय लेकर वही चल सकता है जिसे कि आध्यात्मिक ज्ञान है। अन्यथा भौतिकता के पीछे पड़े हुए लोग, भाई या बहिन, उस निश्चय को लेकर नहीं चल सकते। वे तो सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर स्वयं अपना तथा अपने पुत्र-पुत्रियों का कल्याण ही करेंगे।

उदयपुर में दो बहिनों ने अपने माता-पिता से स्पष्ट कहा कि आप हमारा विवाह करें तो दहेज में एक पैसा भी न दें। कृपया भिखमंगों के घर हमें न भेजें। हम जीवन भर कुवांरी रहना पसन्द करेंगी, किन्तु दहेज माँगनेवाले भिखारियों के घर नहीं जायेंगी। बन्धुओ ! यह हुआ साहस एवं संकल्प का

उसमें घाव लगा हुआ हो, तो वह भरेगा क्या ? शव का घाव नहीं भरेगा। केवल जिसकी आत्मा में वह चैतन्य-बद्ध ईश्वर रहा हुआ है, उसी का घाव भरता है। घाव के भर जाने की यह क्रिया भीतर से होती है, उस चैतन्य तत्व के प्रभाव और शक्ति से ही होती है।

यही बात वनस्पतियों के विषय में भी है। किसी वृक्ष की छाल निकाल दी जाय तो उस स्थान पर थोड़े समय में नई छाल आ जाती है। इसके विपरीत एक सूखी लकड़ी को यदि छील दिया जाय तो उसके स्थान पर दूसरी छाल नहीं आती। इसका कारण यही है कि एक वृक्ष के भीतर बद्ध ईश्वर है। उसी की शक्ति से वनस्पतियाँ अपनी जड़ों के द्वारा मिट्टी तथा पानी में से अपनी खुराक प्राप्त करती रहती हैं, जबकि एक लकड़ी का टुकड़ा ऐसा नहीं कर सकता। वृक्ष में जो बद्ध ईश्वर है वह आठ कर्मों से युक्त है और मनुष्य के समान ही प्राणवान है। जिस प्रकार एक बालक को भोजन दिया जाता है तो उसका विकास होता है, उसी प्रकार इन वनस्पतियों में भी उनका भोजन मिलते रहने पर विकास होता है तथा उसी नियम के अनुसार घाव भी भरता है। अतः जिस प्रकार ये दो बातें मनुष्य में पाई जाती हैं कि भोजन मिलने पर वह विकास करता है तथा उसका घाव भर जाता है वही बात वनस्पतियों तथा मिट्टी के लिए भी है।

आप इन बड़ी-बड़ी पट्टियों को देख रहे हैं जिनसे कि इस भवन की यह छत बनी हुई है। ये पट्टियाँ किसने बनाईं ? मिट्टी के भीतर जो बद्ध ईश्वर स्थित है वही इस रूप में विकसित हो जाता है। पहाड़ खोदकर आप पट्टियाँ निकाल लेते हैं। वहाँ बड़े-बड़े खड्डे बन जाते हैं। आप वहाँ कूड़ा-कर्कट भर देते हैं अथवा काल क्रमानुसार वहाँ कूड़ा-कर्कट मिट्टी इत्यादि एकत्र होता रहता है और कालान्तर में वहीं से खोदने पर फिर पट्टियें निकल आती हैं। यह किस प्रकार होता है ? अब आप समझ ही गए होंगे कि वहाँ पर मिट्टी में भी जीव है और अपने घाव को भरने के लिए वहाँ विकास होता रहता है। अस्तु, ये जो पहाड़ दिखाई दे रहे हैं, ये भी बद्ध ईश्वर से ही बढ़ रहे हैं और अपने-अपने विकास की दृष्टि से चल रहे हैं। तो इस दृष्टि से जो

कार्य। ऐसी वहिनें धन्य हैं। यदि समाज में इसी प्रकार से वहिनें साहस और विवेक का परिचय दें तो समाज के सुधरने की आशा बन जाती है। उन वहिनों के पिता व्याख्यान के वाद मेरे पास आए और यह प्रसंग रखा और कहा कि मैं उन्हें दहेज लेने तथा देने का त्याग करा दूं। तो मैंने उनसे कहा कि आप लेने का त्याग तो कर सकते हो, किन्तु दहेज देने का त्याग करके किस प्रकार चला सकेंगे ? आपकी कन्याओं के विवाह के प्रसंग पर क्या स्थिति वनेगी ? तो उस भाई ने कहा कि उनकी कन्याएँ अपने निश्चय में दृढ़ हैं। वे आजन्म कुमारी रह लेंगी, किन्तु दहेज लेने वाले के घर नहीं जाएँगी।

तो यह एक अच्छी वात है, दहेज की दृष्टि से। आप सभी को ऐसा शुभ निश्चय करके चलना चाहिए जिससे समाज की हजारों और लाखों कन्याओं का जीवन वरवाद होने से वच सके।

अव हम आगे वढ़कर विचार करें कि शील की दृष्टि ब्रह्मचर्य की दृष्टि से है। परन्तु स्वभाव भी सरल होना चाहिए। जिसका स्वभाव आध्यात्मिक दृष्टि वाला हो तो वह शील वृत्ति का है। चरित्र ठीक हो, किन्तु आध्यात्मिक स्वभाव न हो, तो वहाँ भी आगे जाकर शान्ति नहीं मिल सकती है। इसी प्रकार अपनों से वड़ों के अनुशासन में रहने का गुण भी व्यक्ति में होना चाहिए। जिसका जीवन अनुशासनवद्ध होता है वही चरित्रसम्पन्न वन सकता है। किन्तु जिसका जीवन अनुशासन में न हो और जिसके सिर पर वड़ों का वरद हस्त न हो, उसके जीवन में उद्दंडता आ जाती है।

इसी प्रकार विद्यावान होना भी आवश्यक है। विद्या का अर्थ केवल अक्षरीय ज्ञान से नहीं है। अथवा पेट भरने की कला सीख लेना ही विद्यावान वन जाना नहीं है। विद्या तो आत्मा के हित के लिए होनी चाहिए। कहा गया है—

"सा विद्या या विमुक्तये।"

विद्या वही है जो मुक्त करे। अतः जव हम किसी पुरुष के गुण-दोषों पर विचार करें, तव हमें इस वात का भी ध्यान करना चाहिए।

हाँ, यह भी देखना चाहिए कि उसके पास सम्पत्ति है अथवा नहीं। किन्तु यह सम्पत्ति का देखा जाना उस दृष्टि से होना चाहिए कि वह उस सम्पत्ति का उचित और सदुपयोग करता है कि नहीं।

इसके अतिरिक्त शारीरिक स्वस्थता तथा वय की समानता भी अवश्य देखी जानी चाहिए। वय की दृष्टि से वेमेल सम्बन्ध कदापि नहीं किया जाना चाहिए। जहाँ इस प्रकार के वेमेल सम्बन्ध होते हैं. वहाँ नारकीय स्थिति देखी जाती है। तथा बीमारियों के सताने पर सारा जीवन आर्त-रौद्र ध्यान में विताना पड़ता है। अतः इन विपयों पर अवश्य ही पूर्ण विचार करके ही कोई सम्बन्ध स्थिर करना चाहिए।

स्वर्गीय आचार्य श्री फरमाते थे कि एक साठ वर्प के बुड्ढे ने अपना सातवाँ विवाह करने का निश्चय किया। यह तो पैसे का, स्वार्थ का, ऐन्द्रियता का युग है। पैसे के बल पर मनुष्य पचासों अकरणीय कार्य करा लेता है। उस बुड्ढे ने भी अपने पैसे के बल पर दलाल तैयार किए। दलालों की इस दुनिया में क्या कमी है ? आपके पास पैसा होना चाहिए। रत्नों और कोयले की दलाली करने वाले हजारों मिल जायेंगे। हाँ, सामायिक, पौषध व्रत आदि धर्म कार्य कराने वाले दलाल आपको नहीं मिलेंगे।

तो उस बुड्ढे ने दलालों को पैंतीस हजार का ठेका दिया और लड़की ढूँढने के लिए कहा। लड़की के लिए जितना भी खर्च हो उसकी कोई चिन्ता नहीं थी। दलाल एक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक विधवा की कन्या से उस बुड्ढे का सम्बन्ध उन्होंने जोड़ा और विधवा को फुसलाया कि तेरी लड़की करोड़पति के घर में चली जायगी, जेवरों से लदी रहेगी, सुख पाएगी। बेचारी विवश विधवा इन बातों के जाल में तथा पैसे के लोभ में फँस गई।

जब यह बात गाँव के सुधारक वर्ग को मालूम हुई तो उन्होंने जाकर उस विधवा को बहुत समझाया किन्तु वह लोभ में पड़ चुकी थी इसलिए मानी नहीं इन सुधारक वर्ग ने कन्या को समझाया तो वह मान गई और उसने उस बुड्ढे से विवाह करने से इन्कार कर दिया। सुधारक वर्ग ने उस कन्या के लिए कोई दूसरा गरीब किन्तु योग्य वर खोज दिया।

बुड्ढे ने जब एक शिकार हाथ से निकल गया तो दूसरा खोजा । किसी दूसरी गरीब कन्या के सामने आभूषणों और मिठाइयों-वस्त्रों के ढेर लगा दिए और उससे विवाह कर लिया। बेचारा वह सुधारक वर्ग, वे आदर्श युवक उस भयानक सामाजिक हिंसा को नहीं रोक पाए । बन्धुओ ! यह कितने दुःख की बात है ? यह कैसा अधार्मिक जीवन है ? आप लोग ऐसे कार्यों का विरोध भी नहीं करते । माताएँ एक बुड्ढे के विवाह में गीत गाने के लिए तैयार हो जाती हैं और जरा से बताशों के लालच में एक युवती कन्या का जीवन बरबाद होता हुआ देखती रहती हैं। भाई लोग बारात में जाने को तैयार हो जाते हैं और थोड़े से पकवानों के लोभ को नहीं जीत सकते ।

बन्धुओ ! आपको सावधान हो जाना चाहिए। इस प्रकार के बेमेल विवाहों को हरगिज प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। आपको दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि जहाँ गुणवान का गुणी से सम्बन्ध हो, समानवय वालों का उचित सम्बन्ध हो, उसी में आप सम्मिलित होंगे । जहाँ आध्यात्मिक दृष्टि का पुट हो, उसी में आप हिस्सा लेंगे। किन्तु जहाँ बेमेल स्थिति हो वहाँ आपको हरगिज नहीं जाना चाहिए और मिठाई खाकर अन्याय और अनीति को प्रेरणा नहीं देना चाहिए।

यह नया नगर है। नया नाम है। बड़ा शहर है। भाइयो, मैं देखना चाहता हूँ कि इस नए नगर में आप लोग कैसी क्रान्ति करते हैं। स्वाध्याय का आप कैसा उदाहरण उपस्थित करते हैं तथा आध्यात्मिक भावना को कितना अंगीकार करते हैं। समय ही बताएगा कि इनमें से आप कितना कुछ कर पाते हैं और कितना नहीं । आपको चाहिए कि मनुष्य तथा समाज के लिए जो हानिकर प्रथाएँ हैं उनका आप त्याग करें तथा अपने जीवन में गुणों का विचार करके आगे बढ़ें। गुणों का मापदण्ड ग्रहण करके ही आप अपनी स्थितियों का मूल्यांकन करें।

रुक्मिणी का प्रसंग चल रहा है। वर की खोज में उपरोक्त सात गुणों को देखना आवश्यक है। जो संरक्षक इन गुणों पर ध्यान देते हैं वे ही अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, आगे तो जैसा जिसका भाग्य। किन्तु कर्तव्य का

पालन हम सभी को करना चाहिए, जिससे कि हमारे जीवन का भार हल्का हो सके। मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध बड़ा महत्वपूर्ण होता है। पशुओं की भाँति बिना विवेक के यह सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिए।

तो महाराज भीम नरेश की सभा में जब यह प्रसंग चला और विद्वान् मंत्री ने वर के गुणों का विश्लेषण किया तो सारी सभा मंत्रमुग्ध हो गई। मंत्री ने तव राजा से कहा कि राजन् ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार जो बात है वह आपके समक्ष रखी है। अब आप राजकन्या के लिए किस सुयोग्य वर का निश्चय करते हैं यह बताइये। राजा ने उत्तर दिया—'मंत्रिवर ! आप विवेकवान हैं। यह उत्तरदायित्व अकेले मेरा ही नहीं है। आप सब लोग अपना विचार बताइये कि किस पात्र में ये सब गुण-विद्यमान हैं और किसके साथ राजकन्या का सम्बन्ध करना उचित होगा।

तब मंत्री ने कहा कि राजन् ! आप अनुभवी हैं। हम लोगों का दीर्घ अनुभव नहीं है। अतः आप संकोच रहित होकर बताइये कि किस पात्र को आप राजकन्या के योग्य समझते हैं। आप विशाल हृदय से निसंकोच होकर अपना मन्तव्य हमारे सामने रखिए। आप सरल हृदय वाले हैं, सरल हृदय से आप अपनी बात कह दीजिए तथा किसी प्रकार का संकोच मत करिए।

बन्धुओ ! गाँधी जी भी जो बात ठीक समझते थे, वह सरल और शुद्ध हृदय से लोगों के सामने रख देते थे। कभी-कभी लोगों को वह बात समझ में नहीं आती थी तो गाँधी जी अपनी बात का आग्रह नहीं करते थे और सबकी सम्मति से कार्य करते थे। फिर कुछ समय में ठोकर लगती थी तब लोगों को गाँधी जी की बात की सचाई मालूम पड़ती थी और वे उनके कहे अनुसार व्यवहार करने लगते थे। इसी प्रकार से आप लोगों को भी अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करना चाहिए और हमेशा अपनी ही बात का आग्रह लेकर नहीं चलना चाहिए। यदि आप ऐसी दुराग्रह की स्थिति छोड़ देंगे तो समाज और राष्ट्र आगे बढ़ेगा।

तो मंत्री की बात सुनकर राजा भीम ने कहा कि भाई, सभी स्थितियों का विचार करके मैं तो द्वारकाधीश श्रीकृष्ण को अपनी कन्या के लिए योग्य

वर मानता हूँ। अब मैंने अपना विचार आपके सामने रखा है। आप आगे अपने विचार कहें।

इस प्रकार से राजा ने अपनी बात कह दी। अब राजा की बात सभासदों में से किसे पसन्द आती है और किसे नहीं आती, यह आज के लिए भावी के गर्भ में रहना चाहिए।

अभी तो मैं इतना ही कहूँगा कि आप अपने जीवन में आध्यात्मिक दृष्टि लेकर चलें और अपनी बुद्धि रूपी रुक्मिणी के लिए कैसा वर ढूंढ़ना चाहते हैं यह विचार करें। —इत्यलम्।

१२ | सूत्र, अर्थ और चिन्तन

असंख्यं जीविय या पमायए

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती....

इस कविता के माध्यम से भगवान । शान्तिनाथ के चरणों में आन्तरिक जिज्ञासा व्यक्त की गई है। वह जिज्ञासा है शान्ति के स्वरूप को समझने की। विवेकशील भक्त, ज्ञानी भक्त ज्ञान के जरिए से प्रभु की प्रार्थना करता है। उसमें अन्धश्रद्धा नहीं होती। जिसके मस्तिष्क का विवेक रूपी दीपक प्रज्व-लित हो रहा है वह कभी भी अन्धश्रद्धा के योग में प्रार्थना नहीं करेगा। अपने और पर के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए, परमात्मा की शक्ति और आत्मा की शक्ति को तुलनात्मक दृष्टि से देखता हुआ वह प्रार्थना भी करता है तो उस स्वर का द्योतन करता है कि जिससे वस्तुतः इस आत्मा का स्वरूप अभिव्यक्त हो सके।

इस प्रार्थना की कड़ियों में शान्ति के स्वरूप को पहिचानने का प्रयत्न किया गया है, न कि शान्ति के खजाने को माँगने का प्रयास। क्योंकि जो व्यक्ति शान्ति के स्वरूप को ही नहीं पहिचानेगा वह शान्ति को प्राप्त कर ही कैसे सकता है? रत्नों की परीक्षा ठीक प्रकार से कर सकने के लिए व्यक्ति को स्वयं जौहरी बनना पड़ता है। दूसरों के सहारे चलने से वह इस विद्या की गहराइयों में नहीं उतर सकता। उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से भी आध्यात्मिक दृष्टि का जौहरी स्वयं आध्यात्मिक शान्ति की याचना न करता हुआ शान्ति के वास्तविक स्वरूप को जानने का ही प्रयास करेगा। यही सीधा

मार्ग है। जिन-जिन लोगों ने यह मार्ग अपनाया है वे अपनी मानसिक स्थिति से ऊपर उठे हैं।

रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण—इन तीन गुणों की व्याख्या अभी आपके सामने विस्तार के साथ नहीं रख रहा हूँ, किन्तु जिसमें इन तीन गुणों का संचार है वह व्यक्ति भी इस आध्यात्मिक दृष्टि का खरा जौहरी नहीं बन सकता है। इन तीन गुणों में यद्यपि तारतम्य है—तमोगुण निकृष्ट स्थिति का है, रजोगुण इससे थोड़ा हल्का है और सतोगुण सात्विक प्रकृति का द्योतन कराने वाला है परन्तु फिर भी ये तीन गुण मन के विभाव की प्रकृतियों का द्योतन कराने वाले हैं। इन तीन गुणों में जो उलझा रहता है, वह शान्ति के दिव्य तेज को नहीं पा सकता है। जिन-जिन महापुरुषों ने इन गुणों की दृष्टि से मानव को कुछ संकेत दिया है उसमें भी यही निर्देश दिया है कि—"गुणातीतः भवार्जुन !"—गीता में कहा गया है कि हे अर्जुन ! तू तीन गुणों में रमण मत कर, किन्तु तू तीन गुणों से ऊपर उठ। इससे तुझे ऊपर की भूमिका का ज्ञान होगा।

वीतराग देव के मुखारविन्द से जो गाथा अभिव्यक्त हुई और गणधरों ने जिसे गाथा का रूप दिया, उसमें भी यही संकेत दिया गया है कि—"तस्सेस मग्गो.......।" इस गाथा की व्याख्या और शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना की कविता की व्याख्या जब से यहाँ आया हूँ, तभी से कुछ कर रहा हूँ। किन्तु दिव्य पुरुषों द्वारा वीतराग देव की दृष्टि में रहते हुए जो आदेश दिए हैं, उनमें अद्भुत खजाना भरा हुआ है। उस खजाने में से अनमोल रत्न एक अपूर्ण व्यक्ति पूरी तरह से नहीं निकाल सकता। पूर्ण ज्ञानी व्यक्ति ही इस व्याख्या को पूर्ण रूप से कर सकते हैं। लेकिन जितना सम्भव हो उतना अपनी बुद्धि का प्रसार करने का प्रयत्न हमें भी करना ही चाहिए।

एक व्यक्ति तीव्र गति से चल सकता है, दूसरा मन्द गति से। किन्तु मन्द गति से चलने वाले व्यक्ति को तीव्र गति से चलने वाले व्यक्ति को देखकर हतोत्साह नहीं होना चाहिए। उसे अपनी गति से अपनी क्रिया करते रहना

चाहिए और वह यदि चलता रहेगा तो अपनी मंजिल पर अवश्य पहुँचेगा। गरुड़ पक्षी आकाश में बहुत ऊँचा उड़ता है। उसके पंखों में इतनी शक्ति है। उसकी तुलना में एक मच्छर तो कहीं भी ठहर नहीं सकता। लेकिन मच्छर भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार एक मंजिल या दो मंजिल की ऊँचाई तक उड़ता है। इसी प्रकार इन शास्त्रीय गाथाओं का अर्थ हम उन विराट् पुरुषों के समान न कर सकें, किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार चिन्तन तो करना ही चाहिए। हमारा यह चिन्तन धीरे-धीरे आगे बढ़ेगा तो एक दिन शान्ति के स्वरूप को हम पहिचान सकेंगे।

कल मैंने स्वाध्याय और "एकान्त निसेवणीये" इस शास्त्रीय गाथा पर विवेचन किया था। इसकी भी लम्बी-चौड़ी व्याख्या है, किन्तु उतनी गहराई में अभी अपने श्रोताओं को नहीं ले जाऊँगा। अभी तो जितनी व्याख्या हुई है उतनी ही हृदयंगम हो जाय तो आगे का भी प्रसंग आ सकता है। आगे प्रसंग आया कि—"सुत्तट्ठ ......।"—सूत्र और अर्थ, इनका चिन्तनपूर्वक अध्ययन करके विकास किया जाय। अर्थात् सूत्र मूल रूप में हैं और उनके अर्थ—शब्दार्थ, भावार्थ, निर्युक्ति, भाष्य, व्याख्या आदि हैं—तो इनका अनुसंधान करते हुए मनुष्य को अग्रसर होना चाहिए। उससे जो बौद्धिक प्रतिभा उत्पन्न होगी, उसके सहारे वह विशाल और व्यापक स्वरूप से शान्ति के दर्शन कर पाएगा।

मनुष्य के पास जो चर्म-चक्षु हैं, उनकी शक्ति की सीमा है। इन चर्म-चक्षुओं से उस शान्ति के स्वरूप को नहीं देखा जा सकता। आप कितनी भी शक्ति लगाएँ, किन्तु ये चक्षु तो स्थूल पदार्थों को ही देख सकते हैं, सूक्ष्म स्वरूप को देख पाना इनकी शक्ति से परे की बात है। कवि आनन्दघन जी ने अजितनाथ भगवान की स्तुति करते हुए संकेत किया है कि समग्र संसार को इन चमड़े की आँखों से देखते-देखते मनुष्य भगवान का मार्ग भूल गया है। अतः जब तक वही भीतर के नेत्रों को, अन्तश्चक्षुओं को नहीं खोलेगा तब तक वह भगवान के स्वरूप को नहीं देख सकेगा। अतः मनुष्य को दिव्य विचार रूपी अपनी अन्तर्दृष्टि का विकास करना चाहिए।

वह आन्तरिक दिव्यदृष्टि इन चमड़े की आँखों के रहते कैसे प्राप्त होगी ? शास्त्रकारों ने उसके लिए निर्देश किया है कि सत्-शास्त्रों का अध्ययन व चिन्तन करने से ही वह विशाल एवं उन्नत दृष्टि प्राप्त होगी तथा अन्तर्नयनों के पट खुलेंगे। इन सूत्रों का गुणगान एवं व्याख्या कहाँ तक की जाय ? आज के इस विषैले संसार में जो भी यत्किंचित् शान्ति हमें प्राप्त हो रही है वह इन्हीं सूत्रों की बदौलत ही है। इन सूत्रों का उद्गम स्थान वीतराग दृष्टि का पुण्य स्रोत है और उसके पश्चात् लिपिबद्ध होने के बाद आचार्यों की कुशल कला के कारण धारा प्रवाह रूप में उन मूल सूत्रों की स्थिति चली आ रही है। कालक्रम के अनुसार अनेक कारणों से उन सूत्रों का बहुत सा भाग विनष्ट भी हो गया है। उदाहरण के लिए बारह वर्षीय दुष्काल के समय में कुछ सूत्र विलुप्त हो गए, किन्तु फिर भी जितने भी सूत्र आज उपलब्ध हैं, उनमें जितनी भी सारगर्भित सामग्री है, यदि उसे ही ठीक प्रकार से हृदयंगम करके मनुष्य चले तो वह अपने जीवन को परिपूर्ण बना सकता है। अब भी ग्यारह अंग गणधरों की वाणी के रूप में, तथा मूल शास्त्रों की दृष्टि से दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों का भी सूत्र एवं अर्थ के साथ चिन्तन किया जाय तो जीवन का विकास किया जा सकता है। परिपूर्ण जीवन की प्राप्ति की जा सकती है।

आप प्रश्न कर सकते हैं कि महाराज ! वीतराग देव ने विराट् सूत्रों के भावों की व्याख्या की, तब आप चार अध्ययनों से समग्र जीवन की व्याख्या करने की बात कैसे कह रहे हैं ? क्या इन चार अध्ययनों में चौदह पूर्वों का सार आ गया ?

बन्धुओ ! आप यदि गहरी दृष्टि से तनिक विचार करेंगे तो यह बात समझ सकेंगे। चार अध्ययन तो वैसे भी बहुत हैं, किन्तु कोई समझने वाला हो तो नमस्कार मंत्र के पाँच पदों में ही चौदह पूर्वों का सार निहित है। इसे देखने-समझने के लिए केन्द्रित विचार एवं बुद्धि चाहिए। एक वैद्य सैकड़ों प्रकार की जड़ी-बूटियाँ इत्यादि लेकर एक विशेष रसायन तैयार करता है। रोगियों के उपचार हेतु वह वैद्य उस रसायन में से आवश्यकतानुसार एक या

अधिक रत्ती भर देता है। उससे रोग दूर होते हैं। तो आप बताइये कि उस रसायन में उन तमाम सैकड़ों जड़ी-बूटियों-औषधियों का समावेश है कि नहीं ? उसी प्रकार इन पदों में उन तमाम सूत्रों का सार समाविष्ट है। उस सार को यदि हम पूरी समझदारी और विवेक से ग्रहण करलें तो हमारे उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है।

आवश्यकता इतनी ही है कि इन सूत्रों का चिन्तन सूत्र के तरीके से होना चाहिए। मन सूत्रों के सार पर ही केन्द्रित रहना चाहिए। उसे संसार के वात्याचक्रों में भ्रमित नहीं होना चाहिए। आज शास्त्रों की जो मूल स्थिति है, उस मूल स्थिति को भी ओझल करने के लिए यदि व्यक्ति कहे कि यह तो मूल वाणी प्रभु की नहीं है तो ऐसा कहना योग्य नहीं है। मूल सूत्रों की कसौटी यही है कि उनके सहारे व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन की समस्त प्रक्रियाएँ कर सकता है और आत्मा की स्थिति ठीक बना सकता है। वह आत्मा की स्थिति ठीक बन सके, उसी दृष्टि से मैं सूत्र, अर्थ और चिन्तन के विषय में कुछ विश्लेषण कर रहा हूँ।

सूत्रों में जो कथन हैं तथा उनका जो अर्थ किया जाता है, उसके सम्बन्ध में कभी-कभी लोग शंका खड़ी करते हैं। उदाहरण के लिए सूत्रों में यह वर्णन आया है कि जो भी शब्द हम बोलते हैं, वह समस्त ब्रह्माण्ड में—लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक—व्याप्त हो जाता है। शताब्दियों पूर्व इस सत्य को हमारे सूत्रकारों ने जान लिया था। किन्तु आज से कुछ ही समय पूर्व तक यदि यह बात जन-सामान्य को कही जाती थी तो बहुतेरे व्यक्ति इस पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं होते थे, उल्टे मजाक उड़ाने के लिए तैयार हो जाते थे। किन्तु आज जब वैज्ञानिकों ने वायरलैस आदि का आविष्कार करके यह बात सिद्ध कर दी है, तब सब लोग सहज ही इस बात पर विश्वास करने लगे हैं। इसी प्रकार की स्थिति अनेक शास्त्रोक्त बातों के विषय में है। अज्ञानी जन ऐसी बहुत सी बातों की हँसी उड़ाते दिखाई देते हैं जो कि उनकी स्थूल, सांसारिक, मोटी बुद्धि में नहीं समाती हैं, ग्रहण नहीं की जाती हैं। किन्तु किसी के द्वारा अपनी आँखें बन्द कर लेने से जिस प्रकार

शान्ति के सोपान

(श्रद्धेय पूज्य आचार्य श्री १००८ श्री नानालाल जी महाराज साहब के ब्यावर चातुर्मास में किये गये प्रवचनों का संकलन)

सम्पादक :

पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल 'न्यायतीर्थ'

ज्ञान भारिल्ल एम० ए०, बी० एड०, विशारद

प्रकाशक

श्री जैन मित्र मण्डल (रजि०)

आनन्द-भवन, मेवाड़ी गेट, ब्यावर (राज०)

कर्तापने के प्रसंग से मैंने स्थिति-स्वरूप का वर्णन किया है उसके भाव प्रभु ने बताए हैं।

ये भाव किस रूप में कहे गये हैं ? इनका क्या अभिप्राय है ? इसका अभिप्राय यही है कि यदि आपके भीतर यह भाव जागृत हो जाय कि आप स्वयं ही स्वयं के निर्माता हैं, विधाता हैं, स्वयं ही ईश्वर रूप में बन सकते हैं, तो आप अवश्य विकास कर सकते हैं तथा इस बद्ध ईश्वरत्व की स्थिति से मुक्त ईश्वरत्व तथा सिद्ध ईश्वरत्व की स्थिति तक पहुँच सकते हैं।

इसके विपरीत यदि आपके मन में यह भाव जागे कि आप तो कुछ भी नहीं कर सकते हैं, आप में कोई शक्ति नहीं है, आप तो केवल एक कठपुतली मात्र ही है, जिसे कि कोई अदृश्य शक्ति प्रतिपल नचा रही है, तो आप विकास नहीं कर सकेंगे। अत: आपको यह जानना चाहिए कि आप कोई कठपुतली नहीं हैं। एक कठपुतली तो यदि उसे कोई नचाने वाला नहीं होगा तो उसी क्षण स्थिर होकर गिर पड़ेगी। किन्तु क्या आप भी वैसा ही करना पसन्द करेंगे ? आपके नगर में सन्त पुरुष आएँ तब तो आप धर्मध्यान करें, किन्तु यदि वे नहीं आएँ तो आप कुछ भी न करें, यह स्थिति नहीं होनी चाहिए। आपमें स्वयं अपना चैतन्य है, आप में स्वयं में यह भावना और प्रेरणा होनी चाहिए कि आप किसी के आश्रय की अपेक्षा न करके स्वयं आगे बढ़ें। आपको यह विचार अवश्य करना चाहिए कि आप सृष्टि में आये हैं तो आपके सुख-दुःख भी शरीर में हैं और उसी के साथ अनन्त शक्तियाँ भी हैं। जितना अनुभव ईश्वर कर रहा है, उतना ही अनुभव हम अपने जीवन के छोटे रूप में कर पाएँ, तो हमारी भावना उत्तमोत्तम बनेगी और हम आगे बढ़ सकेंगे। मन की जो भी गुत्थियाँ है, जीवन की जो भी जटिलताएँ हैं, उन्हें हम इस भावना से आगे बढ़ते हुए सुलझा सकते हैं। वीतरागभाव को मैं इसी दृष्टि से आपके समक्ष रख रहा था कि हम अपना कर्तृत्व अपने हाथ में लेकर चलें। शास्त्र में कहा गया है कि—

'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥"

सूर्य का प्रकाश लुप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार शास्त्रों-सूत्रों का कथन भी चिरकाल के लिए सत्य है और बना रहेगा, चाहे हमारी बुद्धि उसे स्वीकार करने की सामर्थ्य रखती हो अथवा नहीं।

अतः श्रद्धालु एवं विवेकवान जन को ऐसा मानना चाहिए कि हमारी बुद्धि अभी इतनी गहरी नहीं है कि वीतराग प्रभु ने जो वाणी रखी है, जो तथ्य उद्घटित किए हैं, उन्हें पूर्ण रूप से समझ सकें। तो हमें अपनी बुद्धि का विकास करना चाहिए और सूत्रों का अध्ययन तन्मयता एवं श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। जिस प्रकार से एक स्थान पर उच्चारित किये गये शब्दों को ब्रह्माण्ड में किसी भी स्थान पर और अनेक स्थानों पर एक ही साथ सुना जा सकता है, यह बात वैज्ञानिकों ने साकार कर दी है, उसी प्रकार से शास्त्रों के अन्य कथनों की सचाई भी हम जान सकते हैं, यदि हम अपने ज्ञान का विस्तार करते चले जायँ तो।

एक उदाहरण देता हूँ। दस मन चावल पक रहे हों तो उनमें से चावल के एक दाने को देखकर यह मालूम किया जा सकता है कि सारे चावल पक गये हैं अथवा नहीं। इसी प्रकार सूत्रों के कथनों पर भी विचार किया जाना चाहिए और उनमें श्रद्धा रखनी चाहिए। सूत्रों की वाणी के अनेक रहस्य आज विज्ञान के द्वारा जाने तथा प्रमाणित किये जा चुके हैं। ज्ञान का विकास होता रहता है और होता रहना चाहिए। शेष रहस्यों का भी उद्घाटन अवश्य होगा। आवश्यकता इतनी ही है कि इन सूत्रों और उनके अर्थ का चिन्तन हम दृढ़ श्रद्धा के साथ भीतर की बुद्धि से निर्मल बनकर करें। यदि हम ऐसा कर सकेंगे तो शान्ति के स्वरूप को समझ सकेंगे। जिन आत्माओं ने इस स्वरूप को पाया है वे अपनी बुद्धि को सार बनाकर चल रहे हैं। अतः हमें भी गहरी दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए।

बन्धुओ! भीम नरेश ने राजकन्या रुक्मिणी के भावी जीवन पर विचार करते हुए सभा के सामने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि मैं त्रिखंडाधिपति वासुदेव कृष्ण महाराज को अपनी पुत्री के लिए योग्यतम वर समझता

हूँ। वे इस भूमण्डल पर वर के लिए आवश्यक समस्त गुणों से भी अधिक गुणवान हैं और एक महापुरुष हैं। अपने जीवन में अनीति और अन्याय का प्रतिकार करने का दृढ़ संकल्प उन्होंने धारण कर रखा है। बाल्यकाल से ही अनीति के विरुद्ध वे अग्नि के समान प्रज्वलित रहते हैं और उसका विनाश करके ही शान्ति प्राप्त करते हैं। वे यादव कुल के सूर्य हैं और यादव कुल इस भूमण्डल पर आज एक पवित्र कुल है। आयु, विद्या, विनय, कुल, जाति, शील और स्वभाव के समस्त गुण उनमें परिपूर्ण रूप से विद्यमान हैं।

अतः आप मेरी बात पर विचार करें। मेरा यह कोई आग्रह नहीं है। उचित-अनुचित का विचार आपको भी करना है। मैंने तो अपने अनुभव की बात आपसे कही है। यदि आप लोग इससे सहमत होते हैं तो फिर रुक्मिणी बाई की सहमति भी आप लोग ले लें। ऐसा न हो कि उसकी सहमति के बिना हम यह कार्य करें। हमारा यह कर्तव्य है कि जिस कन्या का विवाह हम करना चाहते हैं, उसकी सम्मति भी वर के विषय में अवश्य ही लें। क्योंकि अन्ततः उसी को उस व्यक्ति के साथ अपना शेष समस्त जीवन व्यतीत करना होता है।

यह स्थिति उस काल की थी। परिवार के व्यक्ति किसी कन्या का विवाह करने से पूर्व उसकी सम्मति जान लेते थे और फिर आगे का कदम उठाते थे। आज आप लोग क्या करते हैं, यह आप जानें। आप कन्या की सम्मति लेते हैं अथवा नहीं, या कि उसे एक पशु की भाँति बेच देते हैं, यह आप स्वयं देखिए। इसी प्रकार से जिस वर का प्रसंग हो, उसकी सम्मति भी प्रकारान्तर से ली जाती है अथवा उसे भी नीलाम कर दिया जाता है, यह आपके विचारने की बात है। मैंने तो देखा है कि मेरे भाई चन्द चाँदी के टुकड़ों के लिए अपनी सन्तान को बेच देते हैं, नीलाम पर चढ़ा देते हैं। यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

प्राचीन काल में दास-दासियों के बेचे और खरीदे जाने की कुप्रथा थी। पशुओं के समान दास और दासियों का व्यापार चलता था। वह प्रथा आज

कुछ समाप्त हुई है, किन्तु अत्यन्त खेद का विषय है कि अब भी कुछ स्थानों पर स्त्रियों को गिरवी रखा जाता है। मैं जब उड़ीसा प्रान्त की ओर विचरण करता हुआ गया तो मैंने देखा कि वहाँ के गरीब, अनपढ़ लोग सेठों के यहाँ अपनी स्त्रियों को गिरवी रखने के लिए विवश हो जाते हैं। उड़ीसा के इन आदिवासियों की स्थिति सचमुच बड़ी नाजुक और दयनीय है। व्यापारियों को व्याज का लोभ रहता है और वे छोटी-छोटी वस्तुओं पर, छोटी-छोटी रकमों पर बहुत-सा व्याज लेते हैं। एक भाई बता रहे थे कि उनतीस तारीख को यदि कोई वस्तु दस रुपये सैकड़े व्याज पर गिरवी रखी और एक तारीख को छुड़ा ली, तो भी दस रुपये ले लेते हैं।

यह तरीका बड़ा असभ्य है। निर्बल और दीन जन अपनी बहिनों को गिरवी रखने के लिए विवश किये जायँ, ऐसी समाज की स्थिति शोचनीय है। राजा हरिश्चन्द्र और तारामती भी बिके थे, किन्तु वे सत्य की रक्षा के लिए बिके थे, उसमें एक गौरव की बात थी। दास-दासियों के व्यापार का वह अगम्य तरीका आज प्रायः समाप्त हो गया है, किन्तु आज भी सभ्य रूप में आप लोग अपनी सन्तानों के लिए बोली लगाते हैं। यह तरीका भी उस अगम्य तरीके के समान ही निन्दनीय है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कह सकते हैं कि वह जो एक घाव था, सो ऊपर से तो भरने लगा है, किन्तु उस बीमारी का नाश जड़-मूल से नहीं हुआ है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार के कार्य करते हैं, उन्हें सभ्य कहा जाय अथवा असभ्य, यह आप लोगों के विचार का विषय है। मैं तो इतना ही कहूँगा कि इस कुमार्ग पर जाने वाले लोग कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

प्रत्येक विवेकवान व्यक्ति यह विचार करता है कि उसके द्वारा किसी भी अन्य व्यक्ति के प्रति कोई अन्याय न हो। महाराज भीम नरेश ने भी यह विचार किया कि उनके द्वारा अपनी पुत्री के प्रति अन्याय न हो जाय। इसीलिए उन्होंने कहा कि मैंने अपना मंतव्य आप सबके सम्मुख प्रस्तुत किया है, आप लोग इस पर विचार करें तथा कन्या की भी सम्मति ले लें।

महाराज की बात सभा में उपस्थित सभी व्यक्तियों को रुचिकर लगी। सबके चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे। किन्तु उस सभा में उपस्थित एक व्यक्ति को यह बात अप्रिय लगी और वह रुष्ट दिखाई दिया।

वर्षा आती है तो सभी वनस्पतियाँ लहलहा उठती हैं। उनमें नवजीवन का संचार हो जाता है। किन्तु एक वनस्पति होती है—जवासा, वह जैसे-जैसे वर्षा आती है, वैसे-वैसे ही कुम्हलाने लगती है। प्रकृति की लीला भी विचित्र है।

महाराज भीम नरेश के वचन सुखद वर्षा के समान थे। सभी सभासद उन्हें सुनकर हार्दिक प्रसन्नता से खिल उठे थे। किन्तु जवासे के समान राजपुत्र रुक्मकंवर उससे मुरझा गये। वे मानसिक रोगी थे। इसका परिणाम और निदान क्या हुआ, यह आगे प्रसंगानुसार कहा जाएगा। आज के लिए यही कथन है कि आप सूत्रों के स्वाध्याय द्वारा अपने मानसिक विकारों को दूर हटाने के प्रयत्न में दृढ़ संकल्प सहित जट जाइये। —इत्यलम्।

१३ | आत्मवत्सर्वभूतेषु

"असखयं जीविय मा पमायए

—शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती……"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण प्रतिदिन न्यूनाधिक रूप में चल रहा है। इस विश्व में प्रभु एक महान शक्ति के रूप में है। उनके ज्ञान का पुण्य प्रकाश इस विश्व के अन्तरतम तथ्यों को को प्रकाशित कर रहा है। उनकी दिव्य एवं अलौकिक शक्ति जन-जन के मन को आह्लादित करने वाली है। उनका स्वरूप अद्वितीय है। वे अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं। उनसे बढ़कर कोई तत्व इस सृष्टि में नहीं है। उस विश्व वन्दनीय परमात्मा का सही स्वरूप समझकर मानव अपनी हृदय-तंत्री से जिस वाणी को झंकृत करता है, वह उसके जीवन में एक अपूर्व आनन्द एवं उल्लास की सृष्टि कर देती है।

प्रभु का कोई भी एक नाम नहीं है। एक दृष्टि से उन्हें अनाम कहा जा सकता है। क्योंकि नाम जितने भी हैं या हो सकते हैं, वे सब सीमित हैं, जब कि प्रभु का स्वरूप असीम है, अनन्त है। भाषा की दृष्टि से मनुष्य प्रभु को अनेक नामों से पुकार सकता है। पृथ्वी पर अनेक राष्ट्र हैं, अनेक उनकी भाषाएँ हैं। अपने-अपने संस्कारों के अनुसार व्यक्ति संस्कृत, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, रशियन, फारसी अथवा किसी भी अन्य भाषा के माध्यम से प्रभु को याद कर सकता है। उद्देश्य प्रभु को स्मरण करना है, वही पूरा होना चाहिए, भाषा तो उसका एक साधन है।

मनुष्य की स्थिति अपूर्णता की है। प्रभु पूर्ण हैं। मनुष्य की इस अपूर्णता की स्थिति में परिपूर्णता आनी चाहिए। मानवता का यही लक्ष्य है। आज मानव चाहता और प्रयत्न करता है कि वह बहुत बड़ी शक्ति का स्वामी बन जाय। वह सदा तरुणाई की स्थिति में बनता रहे। सभी चाहते हैं कि सब लोग मेरा मान-सम्मान करें। मेरे यश का विस्तार हो। इसी प्रकार की अनेक आकांक्षाएं एवं कल्पनाएँ उसके मस्तिष्क में चला करती हैं। किन्तु अपनी उन कल्पनाओं को वह कोई आकार नहीं दे पाता है। उन पर स्थिर नहीं रह पाता है। चक्र की भांति वह अपनी कल्पनाओं को घुमा देता है और इधर से उधर भटकता फिरता है। यदि वह संकल्पवान हो तथा अपने लक्ष्य की ओर से कभी विचलित न हो, तो इस मानव-जीवन में वह अपूर्व शक्तियों का स्वामी बन सकता है।

वह स्थिरता कैसे आए ? उस लक्ष्य की ओर वह अचंचल होकर कैसे आगे बढ़े ?

वह स्थिरता लाने के लिए मनुष्य को प्रभु के स्वरूप को समझना नितान्त आवश्यक है। जीवन में से उसे काम, क्रोध, मद, मत्सर इत्यादि को निकाल फेंकना होगा। इनका लवलेश भी जीवन में रहने नहीं देना होगा। जो शक्ति वह संचित करना चाहता है, उसकी ओर अपनी दृष्टि उसे सदा लगाए रखना चाहिए।

लोगों की मति भिन्न-भिन्न होती है। कुछ लोग कह सकते हैं, और कहा भी करते हैं कि हमें ईश्वर से क्या लेना-देना ? उसे हमने कभी देखा नहीं। जो हमें कभी दिखाई नहीं देता उससे हमारा क्या प्रयोजन ? हमें तो जो प्रत्यक्ष है, उपलब्ध है, उसी का भोग करना है। प्राप्त को छोड़कर हम अदृश्य और अप्राप्त की ओर क्यों भागें ? इस प्रकार की अनेक विचारधाराएँ भिन्न-भिन्न मनुष्यों के मन-मस्तिष्क में चला करती हैं। किन्तु उन विचारधाराओं के पीछे यदि मनुष्य अनुसंधान का सूत्र जोड़ दे तो वे सब विचार सही मार्ग की ओर एक शृंखला में जुड़कर प्रवाहित हो सकते हैं। ऐसे वे समाहित विचार एक दिन अपूर्व शक्ति के रूप में प्रगट हो सकते हैं।

वह शक्ति रहस्यमयी अवश्य है किन्तु अप्राप्य अथवा अशक्य नहीं है। हमारे केन्द्रित विचार उस शक्ति की ओर बढ़ सकते हैं। शास्त्रों का कथन है कि हे मानव ! उस शक्ति को समझने का प्रयत्न कर वह शक्ति आकाश का भेदन करने से प्राप्त नहीं होगी। और न ही वह शक्ति पाताल-प्रवेश से प्राप्त होगी। वह शक्ति तो हमें कुछ जानकारी करने से, कुछ ज्ञान प्राप्त करने से मिलने वाली है।

वह जानकारी कौन-सी है ? ऐसा वह कौन-सा ज्ञान है, जिसे प्राप्त किए बगैर वह शक्ति मनुष्य को छलती ही रहेगी और मनुष्य से दूर-दूर ही बनी रहेगी।

आज विश्व में बहुतेरी जानकारी हो रही है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, भिन्न-भिन्न विषयों की जानकारी नाना प्रकार के वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से आज प्राप्त की जा रही है। विश्वविद्यालयों में जाकर विश्व-विज्ञान के नक्शे को देखा-समझा जा सकता है। भूगोल और खगोल के विषय में नित नई बातों का पता मनुष्य लगा रहा है। अनेक प्रकार की डिग्रियाँ-उपाधियाँ इकट्ठी की जा रही हैं। इन सब जानकारियों को एकत्र करके मनुष्य सोचता है कि उसने बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया है। किन्तु ये सभी जानकारियाँ एक वस्तु की जानकारी के अभाव में अधूरी और निरर्थक हैं। वह जानकारी है—स्वयं अपने स्वरूप को जानना, आत्मज्ञान प्राप्त करना।

आत्म-स्वरूप का ज्ञान वह प्राण है, जिसके अभाव में शेष सभी जानकारियाँ निष्प्राण हैं। जिस प्रकार यह मानव-पिण्ड, यह मनुष्य की कंचन-काया, प्राणों के अभाव में निरर्थक है, उसे तुरन्त श्मशान में पहुँचा कर भस्म कर दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान के अभाव में मनुष्य जितनी भी भौतिक जानकारी प्राप्त करता है वह व्यर्थ रहती है और उलटे भय का कारण बन जाती है। यह बात आज संसार में जो भी स्थिति है और जो घटनाएँ घटित हो रही हैं, उन्हें देखकर अच्छी तरह से समझी जा सकती है। भौतिक पदार्थों की यह प्राणहीन जानकारी आज मनुष्य को विनाश के

अतल गर्त की ओर ले जा रही है। इन जानकारियों का प्रयोग मानव-संग्रह के लिए ही किया जा रहा है। आज मानवता संत्रस्त और उत्पीड़ित दिखाई देती है। उसका कारण यही है कि आज मानव ने बहुत-सी जानकारी प्राप्त करली है, किन्तु उसे जीवन में प्राणों का संचार करने वाले तत्वों की जानकारी नहीं है। आज संसार में जहाँ तक भी दृष्टि जाती है, वहाँ तक शंका-संदेह, विनाश-उत्पीड़न और अशान्ति-हाहाकार ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। परिणामतः मनुष्य आज किंकर्त्तव्यविमूढ़ जैसा बनता जा रहा है। उसे त्राण का कोई मार्ग ही दिखाई नहीं देता। चारों ओर उसे एक ऐसी अग्नि प्रज्वलित होती हुई दिखाई देती है कि जो धीरे-धीरे उसके समूचे अस्तित्व को सुलगाकर राख की ढेरी बना देने के लिए आकुल है।

इस भयानक विनाश-लीला से त्राण पाने के लिए मनुष्य को अपने अन्तःकरण के धरातल की तरफ देखना है। यह मानव शरीर जानकारी के लिए है अवश्य, किन्तु प्राणवान जानकारी के साथ ऐसा होना चाहिए। वह प्राणवान जानकारी स्वयं अपने को समझने की है। जिस दिन व्यक्ति अपने को जान लेगा, उस दिन उसकी अपनी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जायगा तथा समस्त विश्व में से यह आपाधापी भी दूर हो जायगी।

अपने भीतर झाँकना और स्वयं अपने को पहिचानना एक कला है, और यह नितान्त आवश्यक है। आप ऐसा मत सोचिए कि आप अपने शरीर को देख रहे हैं तो उससे आपने अपने आपको जान लिया। वास्तविकता यह है कि आप अपने भीतर के एक छोर को भी नहीं देख पाये हैं। आपका मन कृत्रिम वस्तुओं के विचारों से भरा हुआ है। आपको उन्हीं से फ़ुरसत नहीं है तो भला आप अपने आपको जानने का अवकाश कहाँ से निकालेंगे?

बन्धुओ! एक सरोवर है। उसके जल पर काई की मोटी तह जम गई है। उससे वह निर्मल जल ढक गया है। अब उस जल के भीतर रहे हुए किसी प्राणी को न तो भीतर ही कुछ स्पष्ट दिखाई दे सकता है और न वह बाहर की किसी वस्तु को देख सकता है। किन्तु यदि उस काई या सेवाल के

जाल में एक छिद्र कर दिया जाय तो उस प्राणी को उस छिद्र में से ऊपर अनन्त तक फैला हुआ नीला आकाश दृष्टिगोचर हो सकता है।

इसी प्रकार से हमारी इस आत्मा के ऊपर, हमारे इस जीवन पर स्वार्थ-परता, अर्थलोलुपता, सत्ता और सम्पत्ति इत्यादि के कचरे रूपी सेवार ने अपना जाल इस प्रकार से बिछा रखा है कि हमें अपने भीतर के विराट् विश्व के तनिक भी दर्शन नहीं हो पाते। इसी प्रकार से हमें अपने से बाहर का भी कोई तत्व दीख नहीं पड़ता।

पानी की सतह पर जमी हुई काई को हटाना अपेक्षाकृत सरल है। किन्तु मनुष्य की आत्मा पर जमती चली जाती इस काई को हटाना कुछ कठिन है। हमें यदि अपने कल्याण की आकांक्षा है, तो इस काई को दूर हटाना ही होगा। इसे दूर हटाकर हमें अपने को जानने का सिलसिला जारी करना ही चाहिए।

अतः बन्धुओ! अपने जीवन की सार्थकता की दृष्टि से तनिक ठहर कर, एकान्त में शान्ति से बैठकर, अपने मन को शान्त और एकाग्र करके विचार कीजिए कि मेरा जीवन क्या है? मेरा स्वरूप क्या है? मेरी वास्तविक शक्ति, मेरी ऊर्जा क्या है? कहाँ है? वह ऊर्जा भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही ऊर्जाओं के रूप में अभिव्यक्त है। किन्तु यदि उसे केवल भौतिकता की ओर ही अग्रसर होने दिया जायगा तो वह घोर विनाश का कारण बन सकती है।

आज समस्त विश्व के रंगमंच पर जो संहार-लीला चल रही है, उसे देखकर किस व्यक्ति का हृदय पीड़ा से कराह न उठेगा? क्या आपके मन में कभी ये दृश्य देखकर तिलमिलाहट नहीं होती? मनुष्य इस विराट् शक्ति का स्वामी है। किन्तु मति के उलट जाने से वह स्वयं अपना ही विनाश कर लेने पर तुला हुआ है। आज भाई भाई के साथ, समाज समाज के साथ, राष्ट्र राष्ट्र के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है? मनुष्य मनुष्य का गला काटने की जैसे होड़ लगाये बैठा है। एक क्षण के लिए भी वह यह नहीं सोचता कि इस प्रकार का व्यवहार करने से उसके जीवन में शान्ति के संस्कार कभी नहीं आ सकते।

बन्धुओ ! अपने आपको पहिचानिए। अपनी शक्ति को पहिचानिए। यह तथ्य जानिए कि आप मात्र यह जो पिण्ड ऊपर से दिखाई दे रहा है, उतने ही नहीं हैं। इस पिण्ड के घेरे में आपकी जो महान् आत्मा है उसे जानिए। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—ये तीन तत्व जो आप में अवस्थित हैं, उन तत्वों के साथ यदि आप उस महत्वपूर्ण तत्व को प्राप्त कर लेंगे तो सही अर्थ में आप इस व्यापक मानवता के एक सदस्य बन सकेंगे। जब तक मनुष्य में मानवता का यह धरातल तैयार नहीं होता, तब तक शुद्ध आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का धरातल भी तैयार नहीं हो सकता।

इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए चलने पर ही मनुष्य यह सोच-विचार कर सकता है कि वह अपने लिए क्या चाहता है ? सुख या दुःख ? शान्ति अथवा अशान्ति ? यदि सुख और शान्ति वह अपने लिए चाहता है, तो उसे यह भी विचार करना पड़ेगा कि अपनी ओर से वह किसी अन्य को दुःख न दे। जिस प्रकार हमारे ऊपर प्रहार होने से हमें पीड़ा पहुँचती है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी पीड़ा पहुँचती है। उन्हें भी दुःख होता है। जिस प्रकार हम सुख चाहते हैं, उसी प्रकार दूसरे भी सुख चाहते हैं। हम अपने लिए हिंसा नहीं चाहते, तो दूसरे के प्रति भी हमें अहिंसा का व्यवहार रखना चाहिए। यदि हम अपने लिए दूसरों के द्वारा सुख-सुविधा के व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं, तो हमारा कर्तव्य है कि हम भी दूसरों की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखकर चलें।

जिस दिन ऐसी स्थिति बनेगी, जिस दिन हम एक-दूसरे के सुख का ख्याल करेंगे और एक-दूसरे के विकास में सहयोग करने की भावना लेकर आगे बढ़ेंगे, उस दिन इस संसार का स्वरूप निखरेगा। उस दिन चारों ओर दिखाई देने वाला यह विनाश-चक्र थम जायेगा और यह रोना-धोना, हाहाकार-चीत्कार आदि भी उसी दिन शान्त-शमित होंगे।

अनेक प्रकार के सामाजिक और राजनैतिक दल प्रतिदिन अनेक प्रकार की घोषणाएँ करते रहते हैं। वे घोषित करते हैं कि मानव की शान्ति के

—यह आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है। यही भोक्ता है और यह अपने जीवन को जैसा चाहे बना सकता है। वीतराग देव ने तो इस नीति का निर्देश कर दिया कि आप चलें तो भला और न चलें तो भला। गीता में एक श्लोक आया है कि—

"उद्धरेदात्मनात्मानम्........ ....।

—तू अपनी आत्मा से आत्मा का उद्धार कर। आत्मा ही आत्मा का शत्रु और बन्धु है। जीवन के उत्थान का महत् प्रश्न जहाँ हो, वहाँ किसी के हाथ की कठपुतली बनकर मत चलो। जयवंत शक्ति आप में स्वयं में निहित है। जीवन को सिद्धि के मार्ग पर अग्रसर करने की कला यदि आप सीख लें तो इस जीवन में चार-चाँद लगा सकते हैं। अनेक प्रकार की, बल्कि जिनका कोई अन्त ही नहीं, इतनी शक्तियाँ—अनन्त शक्ति—हमारी आत्मा में विद्यमान हैं। इसी शक्ति की पहिचान कराने के लिए, इसी शक्ति को जागृत करने हेतु उपदेश दिया जाता है। एक रूपक मैं आपके सामने रख रहा हूँ उस पर मनन करें—

रुक्मणी मंगल-चरित्र

"जग हितकारी, दृढ़व्रतधारी जिनका जीवन है सुखकार।
जिनका जीवन है सुखकार, उनका होवे मंगलाचार॥"

—बन्धुओ! जो दृढ़व्रतधारी हैं और जग के हितकारी हैं, जो अपने जीवन का भार स्वयं उठाकर चलते हैं, अपने सुख-दुःख के जो स्वयं निर्माता बनते हैं, जो अपनी कर्तृत्व शक्ति अच्छे कार्य में, सदुद्देश्य में लगाते हैं तथा बुरे काम में इस शक्ति का अपव्यय नहीं करते हैं, वे ही पूज्य बनते हैं।

इस रूपक द्वारा मैं जिन महापुरुषों का वर्णन आपके सामने रखने जा रहा हूँ, उनके समय में सौराष्ट्र देश की क्या स्थिति थी इसका वर्णन कवि द्वारा किया गया है—

उस काल में द्वारिकापुरी इस पृथ्वी पर दूसरी अलकापुरी अथवा देवपुरी

लिए, मानवता के विकास के लिए वे प्रयत्नशील हैं। किन्तु दुर्भाग्य की स्थिति यह है कि उनकी कथनी और करनी में बड़ा अन्तर है। वे घोषणाएँ तो कुछ करते हैं और कार्य कुछ और ही करते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें स्वयं को समझने की कला और बुद्धि ही नहीं है। जब व्यक्ति अपने को समझकर, अपने उचित कर्तव्य को निर्धारित करके, मानवता की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिकता के भव्य-भवन को निर्माण करने का प्रयास करता है तभी वह सच्चा मानव कहलाने का अधिकारी बनता है तथा देवता भी उसकी पूजा करने को लालायित हो उठते हैं।

जो भी व्यक्ति अथवा दल समाज या राष्ट्र के हित का उद्देश्य लेकर कार्य करे उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने चरित्रबल को लेकर चले। ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को अपनी तुच्छ इच्छाओं से ऊपर उठना चाहिए और उन गुणों को अपने आप में विकसित करना चाहिए जिससे कि भौतिक पदार्थों की ओर से ध्यान हटकर आध्यात्मिक विकास की ओर मन केन्द्रित हो। आज मनुष्य का ध्यान भौतिकता की ओर आकृष्ट है। वह यह सोचने लगा है कि जो कुछ भी उसे स्थूल रूप से दिखाई दे रहा है तथा विज्ञान जिन वस्तुओं को प्रमाणित कर रहा है, केवल वे ही सत्य हैं। किन्तु वास्तविकता तो ऐसी नहीं है। मैं विज्ञान का विरोधी नहीं हूँ। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि मनुष्य को विज्ञान के साथ-साथ अपने आपका ज्ञान (आत्मविज्ञान) भी प्राप्त करना आवश्यक है।

एक सीधा-सा प्रश्न है कि विज्ञान ने जो तथ्य प्रमाणित किये हैं, वे इससे पूर्व अस्तित्व में थे कि नहीं ? वे गतिएँ इससे पहले कहाँ थीं ? सत्य तो यह है कि वे इससे पूर्व भी थीं, किन्तु विज्ञान उन्हें अब जान-पहचान सका है। वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं का अब पहले से अधिक विकास हुआ है और धीरे-धीरे वह उन सभी बातों को स्वीकार करता जा रहा है, जिनका वर्णन शास्त्रों में हमें पहले से ही प्राप्त है।

अतः हमें अपनी दृष्टि को विशाल रखकर चलना चाहिए और विज्ञान

को विज्ञान तक ही सीमित रहने देना चाहिए। प्रत्येक बात का मापदण्ड विज्ञान को ही बना लेने से हमारा काम चलने वाला नहीं है। कहा गया है—"**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।**"—अपनी आत्मा के लिए जो प्रतिकूल पड़ता हो, वैसा आचरण दूसरों के लिए भी न करो।

जीवन में अपने व्यवहार का शुद्ध मापदण्ड यही उद्घोष वाक्य होना चाहिए। दूसरों को हम किस दृष्टि से देखें, उनके साथ कैसा व्यवहार करें यह बात इस कथन से निर्णीत की जा सकती है। हमें स्वयं अपना ही गज, अपना ही मापदण्ड लेकर चलना चाहिए और अपने भीतर झाँककर, अपने स्वरूप को पहिचान कर, दूसरों के साथ भी उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए।

आप व्यापार करते हैं, कपड़े का। वहाँ लेन-देन का साधन गज या आज-कल मीटर है। अनाज के व्यापारी के पास किलो-क्विंटल है। सोने-चाँदी के व्यापारी के पास ग्राम आदि हैं। तो प्रत्येक व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न साधन और आधार हैं। यदि एक सोने-चाँदी का व्यापारी मीटर या किलो से तोल या नाप करने लगे तो उसका दिवाला निकल जाय या उसका काम नहीं चले। उसका काँटा भी टूट सकता है। इसी प्रकार से आजकल हवा के दबाव और वजन को नापने के लिए भी यन्त्र हैं। तो ये सब भौतिक साधन हैं। इन साधनों से आध्यात्मिक तत्व को नहीं नापा जा सकता है।

इसीलिए मैं आपसे कहता हूँ कि जीवन के दोनों पक्षों को बड़े ध्यान से देखिए। गम्भीरता से विचार कीजिए। एक ही पक्ष के होने से जिस प्रकार से कोई पक्षी उड़ान नहीं कर सकता, उसी प्रकार यदि आप अपने जीवन के एक ही पक्ष को साधते चले जायेंगे और दूसरे पक्ष की अवहेलना कर देंगे तो आपके विकास की गति रुक जायगी।

एक वैज्ञानिक के लिए भी यही बात उचित ठहरती है। विज्ञान की उपलब्धियाँ हितकर हैं, बशर्ते कि उनका उपयोग मानव-कल्याण के लिए किया जाय न कि मानवता के संहार के लिए। किन्तु एक वैज्ञानिक को भी

जीवन के दूसरे पक्ष—आध्यात्मिक पक्ष को नहीं भूलना चाहिए, तभी सारी वैज्ञानिक उपलब्धियों का सही उपयोग हो सकता है।

वास्तविकता यह है कि ऐसा हो नहीं रहा है। मनुष्य की दृष्टि में आज केवल भौतिक सुख-सुविधाएँ ही बसी हुई हैं। अपने जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को, जोकि अधिक महत्वपूर्ण है, उसने भुला रखा है। इसीलिए संसार में आज स्वार्थ का बोलबाला है, लड़ाई-झगड़े हैं, अन्याय और अत्याचार हैं। यदि मनुष्य की दृष्टि में जीवन का आध्यात्मिक पक्ष भी स्पष्ट रहे, बल्कि उसी को मजबूत बनाने का उसका उद्देश्य प्रमुख रहे और वह अपनी आत्मा को पहिचान कर अन्य व्यक्तियों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करना सीख ले जैसा कि वह स्वयं अपने साथ चाहता है, तो समस्या का समाधान हो सकता है। जो हमारे लिए हितावह है, वही दूसरों के लिए भी हितावह है, ऐसी भावना हमारी होनी चाहिए।

संसार की किसी भी भाषा के, किसी भी धर्म के साहित्य को उठाकर देख लीजिए, उसमें यही कहा गया है कि सभी प्राणियों को अपने समान समझो, किसी का दिल न दुखाओ, किसी को पीड़ा मत पहुँचाओ। शास्त्रों में आया है—"सव्वभूयप्पभूयेसु"—तथा—"आत्मवत् सर्वभूतेषु"—अपने समान ही प्रत्येक प्राणी को समझो।

इन वाक्यों को अपने जीवन का मूल मंत्र बनाकर चलना चाहिए। यदि ऐसी शुद्ध आत्मनिष्ठा व्यक्ति के जीवन में आ सके तो उसका मन-मयूर सदा ही नर्त्तन आनन्द से नृत्य करता रहे। किन्तु हम तो छोटी-छोटी बातों में उलझ जाते हैं। नगण्य-सी बातें हमें उत्तेजित कर देती हैं। झूठे मान-अपमान के चक्कर में फँसकर हम अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं।

एक स्थान पर पंचायती जाजम बिछी थी। किसी सार्वजनिक कार्य के विषय में विचार होना था और लोगों की सूची बनाई जानी थी। पंच लोग

तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग बैठे थे। केवल एक व्यक्ति वहाँ उपस्थित नहीं था। उसके आने में देर होती देखकर शेष लोगों ने सोचा कि सूची बनाने का कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। वह व्यक्ति जब आएगा तब वह भी सम्मिलित हो जायगा।

सूची में जब लोगों के नाम लिखने का प्रसंग आया तो एक व्यक्ति ने सुझाव दिया कि अमुक सेठ का नाम सर्वप्रथम लिखना चाहिए। यह नाम उसी व्यक्ति का था, जो उस समय वहाँ उपस्थित नहीं था। किसी दूसरे व्यक्ति ने इस बात का विरोध किया और कहा कि उस सेठ का नाम पहले क्यों लिखना चाहिए ? दूसरे का नाम पहिले क्यों नहीं लिखा जाय ? किसी दूसरे का नाम पहिले लिखिए।

तो पहला प्रस्ताव देने वाले व्यक्ति ने समझाया कि भाई अमुक सेठ का नाम पहिले लिखने के लिए मैंने इसलिए नहीं कहा कि वे बड़े सेठ हैं। मैंने उनकी सम्पत्ति की दृष्टि से यह बात नहीं कही है। मैंने तो उनके गुणों की दृष्टि से यह बात कही है। वैसे तो यह पंचायती स्थान है, सार्वजनिक कार्य है, यहाँ सभी समान हैं। किन्तु उस व्यक्ति की कर्त्तव्यनिष्ठा, उसकी उदारता, स्व और पर को पहिचानने की योग्यता इत्यादि गुणों की दृष्टि से ही मैंने उनका नाम प्रथम लिखने का सुझाव दिया है। आगे आपकी इच्छा।

इस प्रकार से व्यर्थ का विवाद चल निकला और काम कुछ भी नहीं हुआ।

थोड़ी देर बाद वह व्यक्ति भी वहाँ आ पहुँचा जिसके नाम को लेकर यह विवाद चल रहा था। उसने सारी बात सुनी तो हँसकर बोला—'अरे, इतनी सी बात के लिए आप लोग विवाद में पड़ गए और इतना समय हो गया ? मेरे नाम को कहीं भी रखने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। लाइये, मैं अपने नाम को सबसे नीचे लिखे देता हूँ। आप तो कार्य की ओर ध्यान दीजिए।'

ऐसा कहकर उसने कागज और कलम उठाए और नीचे ही नीचे अपना नाम लिख दिया।

यही उस व्यक्ति की सज्जनता, सरलता और महानता थी।

इस महानता को देखकर उसके विरोधी भी प्रभावित हुए और क्षमा मांगते हुए उन्होंने उसी व्यक्ति का नाम स्वयं अपने हाथ से सूची में सर्वप्रथम लिख दिया।

इस प्रकार विवाद का अन्त हुआ और कार्य आगे बढ़ा।

तो बन्धुओ ! यह एक रूपक है। कथन का अभिप्राय यह है कि हमें अपने आपको पहिचानना चाहिए और झूठे, बाहरी, ऊपरी, असार मान-अपमान पर ध्यान न देकर अपने आन्तरिक गुणों का विकास करना चाहिए। मनुष्य के आन्तरिक गुणों का प्रभाव स्वयमेव ही अन्य लोगों पर पड़ेगा और उन्हें भी उससे उचित मार्ग निर्देश प्राप्त होगा।

अपने विचारों को ठीक बनाना, उत्तम विचार ही मस्तिष्क में लाना और उत्तम विचारों पर दृढ़ता से स्थिर रहना जीवन में सफलता के लिए बहुत आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह बात सत्य है कि जैसे हमारे विचार होते हैं, वैसा ही हमारा जीवन भी बन जाता है। आज तमाम मानवता रोगग्रस्त दिखाई देती है। उसका कारण यही है कि मनुष्य का मन दुर्बल हो गया है। उसके मस्तिष्क में दुर्बल और तुच्छ विचार घर किए बैठे हैं। यदि उन तुच्छ और दुर्बल विचारों को निकाल कर महान् भावना उत्पन्न की जाय तो मनुष्य अधिक सशक्त बन सकता है, मानवता प्रगति कर सकती है।

मनुष्य के मन की शक्ति कितनी चामत्कारिक हो सकती है उसका एक उदाहरण लीजिए—

एक मिनिस्टर सा० बीमार हो गए। इलाज के लिए वे अपने एक दोस्त डाक्टर के पास पहुँचे। उस समय वह डॉक्टर अपने एक मित्र-सेठ का इलाज कर रहा था। सेठ को टी० बी० की बीमारी थी। अन्य डॉक्टरों ने सेठ की हालत की जाँच-पड़ताल करके उसे निराशाजनक उत्तर दे दिया था। साफ

वता दिया था कि भाई, आपको तीसरे दर्जे की टी० बी० हो गई है। अव यह रोग हमारे लिए असाध्य हो गया है। अत: आप अपनी आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न कीजिए और नए जन्म की तैयारी में लग जाइये।

सेठ के दोस्त डॉक्टर ने जव सारी स्थिति देखी और सुनी तव उसने सेठ से कहा कि मैं दूसरे तरीके से उपचार करता हूँ और वह तल्लीनता के साथ सेठ की स्थिति का निरीक्षण-परीक्षण करने लगा।

जव मिनिस्टर उनके पास पहुँचा तो उसने उनका भी परीक्षण कर लिया और कहा कि मैंने तुम्हारा परीक्षण कर लिया है। तुम अपने कार्यालय में जाओ। मैं निदान और औपधि वहीं भिजवा दूंगा। मिनिस्टर चला गया।

इसी प्रकार डाक्टर ने सेठ का भी पूर्ण परीक्षण किया और उससे भी कहा कि वह घर जाये, निदान और औषधि घर पर भेज दी जायगी।

दोनों के चले जाने पर डाक्टर ने दोनों के निदान के अनुसार नुस्खे लिखे। सेठ के लिए उसने लिखा कि मित्रवर! मुझे बड़ा खेद है कि तुम्हें तीसरे दर्जे की टी० बी० है। इसका इलाज अब नहीं हो सकता है। अन्य डाक्टरों का निदान और इलाज सही है। अत: आप इस भौतिक पिण्ड तक ही स्वयं को सीमित न रखें। अपने आध्यात्मिक जीवन पर अब दृष्टि डालिए और अन्तिम समय में जीवन की उज्ज्वलता को प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए।

अपने मिनिस्टर मित्र के लिए उस डाक्टर ने लिखा—आपको कोई बीमारी नहीं है। मामूली सी सर्दी-खाँसी है। इसके लिए कोई औषधि लेने की आवश्यकता नहीं है। आप सौंठ और गुड़ का प्रयोग कीजिए।

दोनों पर्चे उसने तैयार कर लिए। उसी समय किसी एमरजैन्सी केस में डाक्टर को किसी मरीज को देखने के लिए बुलावा आ गया। उसने शीघ्रता

ने वहाँ जाने की तैयारी की और अपने कम्पाउण्डर को हिदायत कर दी कि वह दोनों पर्चियाँ सेठ और मिनिस्टर को दे आये।

वह कम्पाउण्डर दोनों पर्चे ले गया। किन्तु भूल से उसने सेठ वाली पर्ची मिनिस्टर को और मिनिस्टर वाली पर्ची सेठ को दे दी।

मिनिस्टर ने घर आकर डाक्टर की पर्ची देखी और उसे पढ़कर उसके हाथ-पांव फूल गये, होश उड़ गये। तीसरी स्टेज की टी० बी० की बात पढ़कर वह तुरन्त बेहाल होकर बिस्तर पर पड़ गया। उसने सोचा कि डाक्टर मेरा मित्र है, योग्य है। वह झूठ नहीं लिख सकता। अतः अब मैं तो बच ही नहीं सकता।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक रूप से बीमार होकर उसने खाट पकड़ ली। उनके दिल की धड़कन बढ़ गई और दस्त आदि भी लगने लग गये। उनकी यह हालत देखकर घर वाले घबराये। उन्होंने फौरन ही डाक्टर को बुलवा भेजा। डाक्टर ने आकर पूछा कि भाई, ऐसी क्या मुसीबत आ गई? क्या बात हो गई? तो मिनिस्टर ने सारी बात बताते हुए कहा कि—मैं तो चला। आप यदि कुछ देर और न आते तो मेरा तो हार्टफेल हो जाता।

यह सारी स्थिति देखकर डाक्टर को हँसी आ गई। उसने कहा—अरे मिनिस्टर, भूल हो गई। कम्पाउण्डर ने गड़बड़ कर दी। तुम्हें तो कुछ भी नहीं हुआ है। मामूली-सी सर्दी-जुकाम है। तुम्हारे लिए तो मैंने सोंठ और गुड़ का प्रयोग करने के लिए लिखा था। यह पर्ची तो सेठ के बारे में थी। तुम चिन्ता न करो।

वास्तविक बात जानकर मिनिस्टर के जी में जी आया। उसके दिल की धड़कन भी ठीक हो गई और दस्त आदि भी बन्द हो गये।

अब डाक्टर ने सोचा कि इनका यह हाल हुआ, तो सेठ का क्या हाल है यह भी चलकर देखना चाहिए। अतः वह सेठ के घर पहुँचा।

सेठ के यहाँ दूसरा ही दृश्य था। वैसे तो वेचारा सेठ कभी खाट से उठता भी नहीं था और दिन भर कराहता रहता था। किन्तु इस समय वह उठकर धूप में आरामकुर्सी पर बैठा हुआ था और बड़ी प्रसन्नता से घर के लोगों से बातचीत कर रहा था। वह कह रहा था—'देखो जी ! कोई भी इन डाक्टरों के चक्कर में मत आना। ये तो सब लुटेरे हैं। मेरा मित्र डाक्टर यदि आज न होता तो ये सब डाक्टर मिलकर मेरे प्राण ले लेते। उन्होंने मेरे शरीर को दवाएँ दे-देकर जर्जरित कर दिया। अरे, मुझे तो कुछ भी बीमारी नहीं है। जरा-सा सर्दी-जुकाम है।'

इस प्रकार वह सेठ बड़े आनन्द से अपने परिवार वालों से बातचीत कर रहा था। जब डॉक्टर आया तो वह उसके चरणों पर गिर गया और बोला—'मित्र' तुमने मुझे बचा लिया। तुम धन्य हो और तुम मेरे सच्चे मित्र हो। मुझे तो कोई भी बीमारी नहीं है। सर्दी-जुकाम है। अब मैं सौंठ और गुड़ का प्रयोग करूँगा और शीघ्र ही पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा।

डॉक्टर ने सारी स्थिति देखी और सोचा कि इसके विश्वास तो ठेस नहीं लगानी चाहिए। अतः उसने कहा—'हाँ मित्र' ! तुम्हें कोई बीमारी नहीं है। चिन्ता न करो। प्रसन्न रहो।'

परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों में सेठ पूर्ण स्वस्थ होकर अपने कामकाज में लग गया।

बन्धुओ ! आत्म-विश्वास बहुत बड़ी वस्तु है। मन की दृढ़ता सफलता का आधार है। वह सेठ टी० बी० जैसी बीमारी से भी अपनी आत्मशक्ति के कारण बच गया। अतः आप इस पर विचार कीजिए और जीवन में कभी निराश मत होइये। अपने आत्मविश्वास को कभी मत खोइये। झूठे विश्वास को अपने हृदय में प्रवेश-मत करने दीजिए और अपनी आत्म श्रद्धा को बनाये रखिये। छोटी-छोटी बातों से घबराना मनुष्य को शोभा नहीं देता। यह तो शरीर है। इसकी इतनी चिन्ता क्या ? इससे इतना मोह कैसा ? अपनी इच्छा-शक्ति को पहिचानिए और उसे दृढ़ बनाइये। यदि आपकी इच्छा शक्ति दृढ़ होगी तो आपको सामान्य औषधियों की आवश्यकता नहीं रहेगी।

मैं देखता हूँ कि घर में यदि कोई बीमार हो जाता है तो आप लोग एक दम घबराने लगते हैं। बुखार आ जाए तो पता नहीं क्या-क्या सोचने लगते हैं। बहिनें तो प्रायः तिल का ताड़ बना देती हैं और इधर-उधर की बातें सुनाकर मरीज को और भी अस्वस्थ बना देती हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए। मामूली सी सर्दी आदि से भी बुखार हो जाता है। उसकी चिन्ता इस प्रकार से नहीं करनी चाहिए कि मरीज घबरा जाय। आप मरीज की साता पूछने आते हैं तो इसप्रकार से व्यवहार कीजिए कि उसकी शक्ति बढ़े। उसकी इच्छा-शक्ति मजबूत हो और उसका आत्म-विश्वास अडिग रहे, आपको ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिए जिससे कि रोगी की अशान्ति बढ़े, आपको श्रद्धा के साथ, दृढ़ श्रद्धा के साथ कहना चाहिए कि चिन्ता की कोई बात नहीं, सब ठीक हो जायगा।

यदि आप रोगी के मन में वहम का भूत भर देते हैं—तो वह बेचारा स्वयं ही घबरा जाएगा और आपके ऐसा करने से उसके जीवन को खतरा उपस्थित हो सकता है। अतः आप इन बातों का ध्यान रखिए और एक मापदण्ड ऐसा बनाकर चलिए जिससे कि आप स्वयं अपने को तथा सम्पूर्ण विश्व के मनुष्यों को माप सकें।

बन्धुओ! महाराज भीम नरेश ने अपनी राज्य सभा में जब अपनी कन्या के लिए वर के रूप में त्रिखंडाधिपति वासुदेव श्री कृष्ण का नाम प्रस्तावित किया तब केवल रुक्मकुंवर को वह बात अरुचिकर लगी थी। क्योंकि वह मानसिक रूप से रोगी था। ऐसे व्यक्ति न स्वयं अपना हित कर सकते हैं, और न किसी दूसरे का।

अतः व्यक्ति को जीवन में अपना मानस शुद्ध रखना चाहिए। जो अपने जीवन से संदेह को तिरोभूत कर लेते हैं, और दृढ़ व्रतधारी बनते हैं वे ही अपने जीवन को मंगलमय बना सकते हैं।

—इत्यलम्।

१४ | मन और अभिगमन

"असंखयं जीविय मा पमायए..........।

कुंथुनाथ भगवान की प्रार्थना

"कुंथु जिन वर दे...........।"

ये प्रार्थना की पंक्तियाँ आज भगवान कुंथुनाथ के चरणों में अर्पित हैं। शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों के निवेदन को चलते कुछ दिन हो चुके हैं। मनुष्य स्वभाव से ही परिवर्तन का प्रेमी है। अतः कुछ भाइयों की ऐसी भावना हुई कि प्रार्थना में भी परिवर्तन होना चाहिए। मैंने भी विचार किया कि प्रतिदिन एक ही विषय को प्रस्तुत करने से अजीर्ण की स्थिति बन सकती है। अजीर्ण न भी हो, तो भी जिज्ञासा तो स्वाभाविक ही है कि अन्य भगवानों का स्वरूप कैसा हैं ? अस्तु, मैंने आज प्रार्थना में परिवर्तन किया है।

किन्तु मैं आपको पुनः स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि प्रार्थना की कड़ियों में परिवर्तन हो सकता है, लेकिन प्रभु का स्वरूप तो आपको वैसा ही समझना होगा। प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में जो निवेदन किया गया है उसमें एक अनुसन्धान का संकेत है, वह संकेत प्रत्येक परिस्थिति में आवश्यक है।

सिद्ध अवस्था, सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए आपको अपना लक्ष्य स्थिर करके चलना पड़ेगा। उस लक्ष्य को स्थिर बनाकर, दृढ़ता से आप उसकी प्राप्ति हेतु प्रयत्न करेंगे, उस एक ही स्वरूप के साथ आप जब तन्मय हो जायँगे, तभी आपकी आत्मा में स्थिरता आएगी।

के ही तुल्य थी। शास्त्रीय वर्णन है—"अलकापुरी संकासा।" इस नगरी के निर्माण का जहाँ वर्णन आया है वहाँ कहा गया है कि देवों ने इस नगरी का निर्माण किया। देवता भी वहाँ कर्ता के रूप में हैं। उनके द्वारा निर्मित इस नगरी का वर्णन बहुत विस्तृत है। गगनचुम्बी, उच्च, धवल, विशाल प्रासादों की शृंखला ही मानो पड़ी हुई है। बाजारों में भव्य दूकानें सुशोभित हैं। धन-धान्य की प्रचुरता है। कोई नागरिक वहाँ बेकार नहीं है। कोई व्यक्ति भूखा नहीं रहता। किसी के साथ अन्याय नहीं होता। वहाँ के लोगों में एक नैतिकता है, जिसका आलम्बन लेकर वहाँ के लोग सुखपूर्वक जीवन-यापन करते हैं।

यह स्थिति उस काल में द्वारिका नगरी तथा वहाँ के निवासियों की थी। उस स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम जरा आज हमारी स्थिति पर विचार करें। आपका ब्यावर नगर नये ढंग से बसा हुआ है यह अच्छी बात है। इस नगर में भी बड़े-बड़े श्रेष्ठी एवं विद्वान् हैं, यह भी प्रसन्नता की बात है। किन्तु क्या इस नगरी की स्थिति प्राचीन काल की द्वारिका नगरी के समान ही है। क्या इस नगरी में बेकारी नहीं है? क्या इस नगरी में सभी लोगों को आवश्यकतानुसार पूरा भोजन मिल पाता है? क्या इस नगरी में पनपने वाली भावी पीढ़ी में नैतिकता एवं धार्मिकता के भाव पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं? क्या आपने ऐसा सुप्रबन्ध कर रखा है कि बालकों को अन्य विषयों की शिक्षा के साथ-साथ आवश्यक एवं जितनी अनिवार्य है उतनी धर्म शिक्षा भी दी जाय?

बन्धुओ! यह बात गंभीरता से विचार करने की है। जिस स्थान पर बेकारी है, जहाँ पर लोगों को खाने को भोजन और पहिनने को वस्त्र भी पर्याप्त मात्रा में न मिलता हो, वहाँ के लोग आत्मा के स्वरूप को समझने लगेंगे ऐसा सोचना ही व्यर्थ है। यह स्थिति किसी एक ही नगर में हो ऐसी बात नहीं है लगभग सम्पूर्ण देश में यही स्थिति दिखाई देती है। और जहाँ ऐसी दयनीय स्थिति होती है वहाँ मनुष्य स्वाभाविक रूप से सांसारिक पदार्थों के लोभ में पड़कर अपनी आत्मा तथा आत्मा के दिव्य गुणों को विस्मृत कर बैठते हैं।

अस्थिरता मनुष्य को चंचल बनाती है। मन चाहता रहता है कि आज यह और कल वह हो। इससे लक्ष्य भी अस्थिर बन जाता है। अतः स्थिरता के सूत्र को कभी हाथ से छूटने नहीं देना चाहिए। आज प्रभु शान्तिनाथ भगवान के स्थान पर प्रभु कुंथुनाथ भगवान के प्रति प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण हुआ है। किन्तु इसमें केवल नाम का भेद ही मानना चाहिए और अर्थ का अनुसन्धान तो वहीं से आगे रखना चाहिए। इस प्रार्थना में मन के परीक्षण की बात कही गई थी। वही कड़ी आगे चल रही है और कवि कुंथुनाथ भगवान के चरणों में अपनी एक उलझन रख रहा है। वह उलझन यह है कि मन का परीक्षण क्यों नहीं हो पा रहा है?

मन के परीक्षण के लिए स्थिरता की बड़ी आवश्यकता है। आप अपना फोटो उतरवाने जाते हैं तो भी आपको कुछ समय के लिए एकदम स्थिर होना पड़ता है। तभी आपकी आकृति चित्र के रूप में उतर पाती है। यदि शरीर अस्थिर रहा तो फोटो बिगड़ जायगी। जब शरीर का फोटो उतरवाने के लिए भी एकदम स्थिर बनना पड़ता है, तब मन का चित्र उतारने के लिए, मन का परीक्षण करने के लिए तो कितनी स्थिरता, कितनी दृढ़ता की आवश्यकता है, यह आप स्वयं ही सोच सकते हैं।

यह स्थिरता कैसे प्राप्त हो?

आप बाजार में चलते हुए किसी वस्तु को ठीक से देखना चाहते हो, तो आपको स्थिर होकर, ठहर कर उस वस्तु को देखना होगा। भागते हुए या तेज गति से चलते हुए आप उस वस्तु को नहीं देख सकेंगे। क्योंकि ऐसा करते हुए आपकी दृष्टि स्थिर नहीं हो पाती। दृष्टि स्थिर होगी, तभी वस्तु का स्वरूप आप देख पायेंगे।

पढ़ाई भी पुस्तक पढ़ते समय भी आपको अपने नेत्रों की पुतलियों को स्थिर करना पड़ता है। चंचल नेत्रों से पढ़ाई नहीं हो सकती।

इसी प्रकार यदि आप अपने मन का परीक्षण करना चाहते हैं तो आपको अपने मन की पुतली को स्थिर करना ही पड़ेगा। नेत्रों की पुतली तो फिर

भी कभी-कभी स्थिर हो जाती है, किन्तु मनुष्य का मन तो बड़ा चंचल है। प्राणीमात्र का यह द्रव्य मन अत्यन्त चंचल होता है। बड़े-बड़े साधक अपनी साधना के लिए एकान्त में, गुफाओं में जाकर बैठते हैं—ध्यान करते हैं, यम, नियम, प्राणायाम आदि के माध्यम से वायु को रोककर मन को स्थिरता की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं। बड़े-बड़े तप किये जाते हैं। किन्तु यह चंचल मन बड़े-बड़े योगियों को भी योग से भ्रष्ट कर देता है। इसीलिए इस प्रार्थना में यह संकेत दिया गया है—

"कुंथु जिन वर दे मनड़ो…………।"

—भगवन् ! मैं जैसे-जैसे इसका जतन करता हूँ, इसकी सार-संभाल करता हूँ, इसके अनुरूप शरीर के ढाँचे को ढाल लेता हूँ, वैसे-वैसे ही यह आगे आगे भागता जाता है। यह मन बड़ा ही विचित्र है।

कवि प्रार्थना करता है कि हे प्रभु ! आप मेरी सहायता कीजिए। मन की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए आपका होना अपेक्षित है। प्रभु, जो शुद्ध अवस्था को प्राप्त हैं, पूर्ण कृतकृत्य हो चुके हैं और जिनको स्वसमय की पूर्ण अवस्था प्राप्त हो गई है वे परमात्मा तटस्थ भाव में स्थित हैं।

प्रार्थना आप मुख से करें, कंठ से करें, मन से करें या भाव की दृष्टि से अध्यवसायों के रूप में करें—इन सब स्वरूपों को वे जान रहे हैं। किन्तु इस अवस्था से आपको आदर्श ही मिल सकता है। सर्वज्ञ भगवान इस मन को स्थिर करने के लिए अनेक उपायों का निर्देश स्थान-स्थान पर कर गये हैं। उन स्थलों का अनुसन्धान करना यह हमारा कार्य है। वह स्थल मैं आपके सामने उस वीतराग वाणी के माध्यम से शब्द-अर्थ का संकेत करता हुआ रख रहा हूँ। उसमें बताया गया है कि—

"तस्सेस मग्गो-गुरु विद्ध सेवा"

जब उस मार्ग को नहीं अपनाया जायगा तो मन को स्थिर करने का आधार कहाँ से और कैसे प्राप्त होगा ?

मनुष्य की बुद्धि इस लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत सहायक बन सकती है। शास्त्रकारों का कथन है कि सूत्र और अर्थ का चिन्तन करने से आपकी बुद्धि प्रबल बनेगी। बुद्धि की प्रबलता के साथ आप एक स्थिरता को प्राप्त करके अपने मन पर जबरदस्त अंकुश लगा सकते हैं। जब तक बुद्धि की स्थिरता प्राप्त नहीं होती, तब तक मन की स्थिरता भी प्राप्त नहीं हो सकती। जब तक बुद्धि में अन्य-अन्य विचार चलते रहेंगे, तब तक स्वाभाविक रूप से मन भी चंचल बना रहेगा। उस बुद्धि को 'धी' कहा गया है। वह बुद्धि स्थिर होकर सूत्र के अर्थ को ग्रहण कर पाती है और उस पर चिन्तन शक्य बनता है।

किन्तु जब तक मनुष्य के मन में अन्य प्रपंचों का कचरा भरा रहता है, तब तक वह सूत्र अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकता। धर्म-स्थान पर भी पहुँच कर मस्तिष्क में अन्य वासनाएँ रखता है तो उसका लक्ष्य दूर ही बना रहता है और वह सूत्र-अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाता।

इस समस्या के समाधान हेतु शास्त्रों में श्रावक और भक्तजन के लिए निर्देश है कि वह जब भी धर्मस्थल के लिए रवाना हों, तो एक शब्द का उच्चारण करे—'निस्सहि। निस्सहि। निस्सहि।' इस शब्द का तीन बार उच्चारण करके ही वह आगे बढ़ता है। इस शब्द के उच्चारण का अभिप्राय यह है कि अब तक मैं घरेलू और सांसारिक कार्यों में अपने मन को लगाए हुए था, जो कि आत्मा पर कर्मों का बन्धन जकड़ने वाले हैं। तो अब मैं सूत्र-श्रवण करने जा रहा हूँ। अतः मैं अपने मन से अब इन कार्यों का निषेध करता हूँ।

जिस प्रकार अकेला व्यक्ति घर से बाहर निकलने पर ताला लगाता है और उसे ठोक-बजाकर देख लेता है। उसी प्रकार धर्मस्थान पर सूत्र-श्रवण हेतु जाते समय वह पाप का द्वार बन्द करके अर्गला लगाता है। यह 'निस्सहि' शब्द का तीन बार उच्चारण पाप के दरवाजे पर ताला लगाने के समान ही है। इसका उच्चारण केवल शब्दों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि मन की दृढ़ता से यह भाव ग्रहण करना चाहिए।

इसके पश्चात् वह गति करता हुआ धर्मस्थान के समीप पहुँचता है। तो उसे पुनः तीन बार निस्सहि, निस्सहि, निस्सहि शब्द का उच्चारण करना चाहिए। इसका प्रयोजन यह है कि मार्ग में बाजार आदि से गुजरते हुए वह अनेक वस्तुओं को देखता है और उन वस्तुओं को देखकर उसके मन में अनेक सांसारिक विचार उठते हैं—जैसे कि यह वस्तु मेरे पुत्र-पुत्री इत्यादि के काम की है, इसे खरीदना चाहिए आदि। अत. यदि यह विचार मेरे मन में बना रहा तो मैं धर्मस्थान पर जाकर भगवान की वाणी का श्रवण ठीक तरह से नहीं कर सकूँगा। अतः मुझे इन बाजार की चीजों की भी निवृति कर देनी है। इसलिए वह पुन. तीन बार 'निस्सहि' शब्द का उच्चारण करके उन वस्तुओं का निषेध करता है।

इतना तो हुआ, किन्तु शास्त्रकारों का कथन है कि यह तो पापकारी प्रवृत्ति का त्याग किया है, लेकिन मन को स्थिर बनाने के लिए और भी प्रक्रियाएँ करनी हैं। इसके लिए श्रावक के लिए पाँच अभिगमन बताए हैं। इन्हें जीवन में साकार रूप देना चाहिए। तो वह तीन बार 'निस्सहि' शब्द का पुनः उच्चारण करने के बाद अपने शरीर पर दृष्टिपात करता है और देखता है कि मेरे पास कोई सचित्त वस्तु तो नहीं है। अर्थात् जीव सहित कोई भी वस्तु—जैसे कि कोई फल, माला, इलायची आदि तो मेरे पास में नहीं है ? अथवा कोई अनाज के दाने तो नहीं हैं ? क्योंकि ये सब सचित्त पदार्थ हैं और इन्हें धर्मस्थान में नहीं ले जाना चाहिए।

धर्मस्थान में सचित्त वस्तु क्यों नहीं ले जानी चाहिए, यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है और इसमें भी रहस्य है। वह रहस्य क्या है ?

विज्ञान ने प्रमाणित किया है कि हरी वस्तुओं में, वनस्पति इत्यादि में भी जीव होता है। शास्त्रों में तो सदा से ही यह कथन है। किन्तु विज्ञान ने उसे अब स्वीकार किया है। तो ऐसी सजीव वस्तुओं का जब-जब भी मर्दन होता है तो उनमें पीड़ा की अनुभूति होती है। वह ध्वनि हमें सुनाई भले ही न दे, किन्तु उनकी अदृश्य प्रक्रियाएं वातावरण में फैलती हैं और हमारे मन को उद्वेलित करती हैं।

आप एक छोटे बालक को यदि अपने साथ धर्मस्थान पर लाते हैं और उसे किसी भी प्रकार की कोई टेस पहुँचती है तो वह स्वाभाविक रूप से रोने-चिल्लाने लगता है। उसकी आवाज आपको सुनाई देती है और आप उसे चुप कराने का प्रयत्न भी स्वाभाविक रूप से करेंगे ही। तो इससे आपके धर्म-श्रवण में बाधा पहुँचती है। उसी प्रकार सचित्त वस्तुओं के विषय में भी समझिए। अन्तर इतना ही है कि बालक की आवाज आप तक पहुँच जाती है, जबकि मूक, सचित्त वस्तुओं का क्रन्दन आप नहीं सुन पाते। किन्तु जैसा कि मैंने कहा, प्रतिक्रिया तो होती ही है, और उसका प्रभाव भी आपके मन पर पड़ता है।

ज्ञानियों ने कहा है कि चाहे जितना छोटे से छोटा प्राणी हो, उसके भीतर भी अध्यवसाय हैं, भावनाएँ हैं। भले ही भाव मन से ही क्यों न हो, किन्तु कष्ट होता है और वायुमण्डल में प्रक्रिया होती है। उसका प्रभाव मनुष्य के मन पर पड़ता है। परिणामतः वह उद्विग्न होता है।

अतः श्रावक सचित्त वस्तुओं को हटाकर समवसरण के बाहर रख देता है। इसीप्रकार से राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार आदि जब धर्मस्थान पर पहुँचते थे तो सचित्त वस्तुओं को हटाने के अतिरिक्त ऐसे वस्त्रालंकारों को भी उतार देते थे जिनसे अभिमान प्रकट होता था। क्योंकि अभिमान युक्त पोशाक को धारण करते हुए भी मन को स्थिर नहीं रखा जा सकता। ऐसी स्थिति में धर्मश्रवण करते हुए भी अपने बड़प्पन का विचार बना रहता है और एकाग्रता नहीं बन पाती। चंचल मन को लेकर भला सत्संगति में भी मनुष्य वस्तु तत्व को किस प्रकार ग्रहण कर सकता है?

आगे कहा गया है कि अचित्त पदार्थ भी अभिगमन के हैं। मन को जो चंचल बनाने वाली वस्तुएँ हैं, भले ही वे अचित्त हों, लेकिन उन्हें भी बाहर ही उतार कर रख देना चाहिए। तलवार, बन्दूक आदि शस्त्र इन्हीं वस्तुओं के अन्तर्गत आते हैं। क्योंकि जब व्यक्ति की दृष्टि इन वस्तुओं पर पड़ेगी तो वह सोचेगा कि इस तलवार से शत्रु का शीश काटा जाता है। यह बन्दूक है, इससे गोली चलाकर शत्रु की छाती बेध दी जाती है, इत्यादि। अतः कोई भी

अभिगमन की चीज हो तो उसे बाहर ही उतार कर रख दिया जाता है। धर्मस्थान में ऐसी वस्तुएँ नहीं ले जाई जातीं।

अब धर्मस्थान में प्रवेश करने के पश्चात् तीसरे अभिगमन की दृष्टि से वह उत्तरासन लगा लेता है। यह शास्त्र का मूल पाठ है। इसका अभिप्राय यह है कि धर्मस्थान में बैठकर मुँह के सामने कपड़ा रखना चाहिए। आप कह सकते हैं कि जब वहाँ मौन बैठे हैं और बोल नहीं रहे हैं तो फिर कपड़े की क्या आवश्यकता ? तो भाई, बोल तो नहीं रहे हैं, किन्तु उबासी तो आदमी को आ सकती है। उबासी आ जाय, खाँसी आ जाय, और कोई मच्छर इत्यादि मुँह में चला जाय तो क्या हो ? आपको खांसना पड़ेगा, थूकना पड़ेगा। इस प्रकार से आपकी और अन्य श्रोताओं की एकाग्रता भंग होगी और शास्त्र-श्रवण का लाभ प्राप्त होने के स्थान पर अन्तराय कर्म का उल्टा बंध हो जायगा।

प्राचीन काल एक विशेष युग था। सभ्यता का युग था। राजा-महाराजा भी उस सभ्यता का पूरा ध्यान रखते थे, और राजा-महाराजाओं के सामने भी दूसरे लोग जाते थे तो मुँह के सामने कपड़ा रखकर बोलते थे। इसे सभ्यता का चिन्ह माना जाता था और यह पूर्णतः वैज्ञानिक बात थी। मुँह के खुले होने पर अनेक प्रकार के जहरीले जन्तु-कीटाणु मुँह में प्रवेश कर जाते हैं। कपड़ा रखने से उन कीटाणुओं से रक्षा हो जाती है। अनेक प्रकार के छूत के रोगों से भी रक्षा हो जाती है। जैनधर्म की यह विशेषता है और इसे ध्यान में रखना चाहिए। यह जैन शब्द किसी दल-विशेष का शब्द नहीं है। यह शब्द तो समस्त मानवों के लिए है। व्यक्ति जन से जैन तभी बनता है जबकि वह हर बात में सभ्यता का तौर तरीका रखकर चलता है। तो सभ्यता के तरीके से भी यह उत्तरासन की बात कही जा रही है। विवाह के प्रसंग में भी जब दूल्हा निकासी के समय घोड़ी पर बैठता था तो वह मुख के आगे कपड़ा रखता था। इन बातों को हम अब भूलते चले जा रहे हैं। शास्त्र-श्रवण के समय तो विशेष रूप से इन बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए। बुद्धिमान के लिए संकेत ही पर्याप्त होता है। अतः यदि आप इन बातों का

ध्यान रखेंगे तो यहाँ आकर बौद्धिक तत्व जुटा सकेंगे। तो यह तीसरा अभिगमन हुआ।

चतुर्थ अभिगमन यह है कि जहाँ से भी मुनियों के, प्रभु के दर्शन हों तो वहीं से उन्हें प्रणाम करके, हाथ जोड़कर आना चाहिए। अभिमान को त्यागने की दृष्टि से यह विधान किया गया है। यदि मन में किसी भी प्रकार का अभिमान अथवा बड़प्पन की भावना बनी रहेगी तो मुनि-दर्शन अथवा शास्त्र-श्रवण का कोई भी लाभ प्राप्त नहीं हो सकेगा। मन को एकाग्र करने की दृष्टि से भी ऐसा करना परमावश्यक है। ऐसी एकाग्रता तथा निरभिमान की स्थिति लेकर जब व्यक्ति चलता है तो उसे शास्त्रों के कथन में से अनेक प्रकार के रहस्य स्पष्ट होते हुए दिखाई देते हैं और उसका हृदय आनन्द के सागर में मग्न हो जाता है।

आजकल प्रायः सुनने में आता है कि कोई स्त्री अपने यौवन काल में स्त्री से पुरुष बन गई। तो यह अशक्य नहीं है। किन-किन भावनाओं और किन-किन कर्म-प्रभावों से ऐसा शक्य बनता है, यह सारे रहस्य शास्त्रों में निहित हैं। यदि आप शास्त्रों का अध्ययन-श्रवण करें तो आपके लिए इसमें विस्मय की कोई बात नहीं रहेगी। आप श्रद्धापूर्वक उन बातों का श्रवण करें, तो आपकी बुद्धि तीक्ष्ण बनेगी और आप शास्त्रों के आशय को सहज ही ग्रहण कर सकेंगे।

आज कल विद्यार्थी तीक्ष्ण बुद्धि वाले बनते जा रहे हैं। यह अच्छी बात है। किन्तु उस तीक्ष्ण बुद्धि का सदुपयोग होना चाहिए। सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान-विज्ञान अनुसन्धान की बातें उनकी तीक्ष्ण बुद्धि सहज ही पकड़ लेती है। उस तीक्ष्ण बुद्धि को शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने और अनुसन्धान करने में लगाना चाहिए। शास्त्र में कहा गया है—"सुत्तत्थ चिन्तन" सूत्र का अर्थ और चिन्तन करने से वह धी' होती है और वह धी' ऐसी पैनी बन जाती है कि अपने अन्दर रहने वाले तत्त्व को पहिचान सकती है। अन्य बातों को भी वह दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब की भांति स्पष्ट देख पाती है।

आप जानते हैं कि राडार नाम का एक यन्त्र होता है। इस यन्त्र द्वारा

कोसों दूर तक से आने वाले वायुयानों का पता तत्क्षण लग जाता है। इसी प्रकार जिनकी बुद्धि में ऐसा राडार जैसा तत्व उत्पन्न हो जाता है, तो उनके नेत्र चाहे वन्द रहें, कान बन्द रहें, किन्तु वह दूर-दूर तक घटित होने वाली घटनाओं को सहज ही अपने मन में जान लेता है। इस ज्ञान का लाभ उसे यह मिलता है कि वह अपने मन की तथा वाहर की तमाम प्रवृत्तियों को पहिचान लेता है तथा हितावह स्थिति को ग्रहण करते हुए अनिष्टकारी स्थितियों से स्वयं को तथा अन्य को वचा सकता है।

इस प्रकार से कथन का आशय यह है कि हमारा लक्ष्य आत्मिक शान्ति प्राप्त करने का है। वह शान्ति का स्वरूप हमारे सामने प्रकट होना चाहिए। अव जहाँ तक प्रार्थना का प्रश्न है, चाहे वह अरहनाथ कुन्थुनाथ अथवा शान्तिनाथ भगवान की हो, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। मूल बात यह है कि इससे हमारा मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य सुधरना चाहिए।

महाराज भीमनरेश का पुत्र रुक्मकंवर मानसिक रोग का रोगी था। क्योंकि वह केवल स्थूल बुद्धि से सोचता था। प्रायः वह दूसरों के सिखाने-पढ़ाने में आ जाता था और अपनी बुद्धि का उपयोग करना उसे आता ही नहीं था। महाराज भीमनरेश ने अपने कर्तव्य को सामने रखकर अपनी कन्या के विवाह के प्रसंग में सभी लोगों से उचित सलाह पूछी और अपनी सम्मति सबके विचारार्थ प्रकट की, तथा यह भी स्पष्ट किया कि उसमें स्वयं कन्या की सम्मति भी ले ली जानी चाहिए।

किन्तु रुक्मकंवर को अपने पिता की बात उचित नहीं लगी। वह मन ही मन श्रीकृष्ण की प्रशंसा सुनकर भुँझला रहा था। उसकी मुख मुद्रा से उसके हृदय का असन्तोष प्रकट हो रहा था। बन्धुओ! संसार में सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कि उत्तम पुरुषों के गुणगान से प्रसन्न होते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसी हीन मनोवृत्ति वाले भी होते हैं जोकि दूसरों की उचित और सच्ची प्रशंसा सुनकर मन ही मन में जल उठते हैं। यह हीन मनोवृत्ति स्वयं उन्हीं के अपरिपक्व मस्तिष्क तथा तुच्छ हृदय की द्योतक होती है।

रुक्मकंवर उन्हीं हीन मनोवृत्ति के लोगों में से था। श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष की योग्य प्रशंसा सुनकर भी वह मन में कुढ़ रहा था और सोच रहा था कि पिताजी की बुद्धि नष्ट हो गई है, तभी वे कृष्ण जैसे ग्वाले की प्रशंसा के पुल बाँध रहे हैं।

रुक्मकंवर का मस्तिष्क इस प्रकार से विकृत होने का कारण था—शिशुपाल की संगति। शिशुपाल से उसकी बचपन से ही मित्रता थी। शिशुपाल सदैव राजकुमार के सामने श्रीकृष्ण की बुराई किया करता था। वह कृष्ण से वैरभाव रखता था। शिशुपाल को कृष्ण के प्रति शत्रुता का भाव होने का भी कारण था। वह कारण यह था कि वह महाराज जरासन्ध का मित्र था। उसने अपनी बहिन कंस के साथ व्याही थी। कंस अन्यायी और अत्याचारी था। जब कृष्ण ने जन्म लिया तो प्रजा को अन्याय और अत्याचार से बचाने के लिए उन्होंने कंस का वध किया। तो जरासन्ध यह सोचता था कि नन्द के यहां उत्पन्न होने वाले इस अहीर के छोकरे ने जब मेरे जमाई को ही परलोक पहुँचा दिया तो फिर यह मेरे राज्य को कैसे टिकने देगा?

इन्हीं कारणों से उसके मन में कृष्ण के प्रति भय और द्वेष ने स्थान बना लिया था। अतः वह साथी राजाओं के बीच इसी द्वेष के संस्कार फैलाता रहता था। इसी के परिणामस्वरूप शिशुपाल भी, जोकि कृष्ण का सम्बन्धी था, कृष्ण से वैर रखने लगा था। होना तो यह चाहिए था कि सम्बन्ध के कारण वह कृष्ण से प्रेम रखता। किन्तु हुआ इससे उल्टा ही। कृष्ण और शिशुपाल मामा-भुआ के भाई थे। किन्तु शिशुपाल तो कुसंगति में पड़ गया था।

संगति का प्रसंग आया है तो मुझे विचार आता है कि आजकल भाई-भाई भी आपस में प्रेम से एक साथ रहना भूलते जा रहे हैं। अनेक कारणों से ऐसा होता है, किन्तु भाई-भाई के आपस के मनमुटाव में ये बहिनें बड़ा भाग अदा करती हैं। यदि इन बहिनों में धर्म के, प्रेम के संस्कार हों, तो वे घर में आकर आनन्द की गंगा बहा देती हैं। लेकिन यदि वे तुच्छ बुद्धि वाली हों तो फिर वे घर को नरक भी बना देती हैं। देखने में आता है कि

भाई-भाई आपस में शामिल में व्यापार तो चला लेते हैं लेकिन उनके चूल्हे अलग-अलग हो जाते हैं। पूछने पर मालूम पड़ता है और वे कहते हैं कि क्या करें साहब, ये घर की लक्ष्मियाँ आपस में मिल-जुलकर नहीं रह पातीं।

बन्धुओ ! यह बड़े ही दुःख की बात है। जिस जीवन में से प्रेम और अपनत्व की भावना समाप्त हो जाती है वह भी क्या कोई जीवन होता है। तुच्छ से तुच्छ बात पर प्रेम के व्यवहार को त्याग देना एक बुद्धिहीन व्यक्ति ही कर सकता है।

हाँ, कहीं-कहीं तो दस-दस भाई भी एक साथ बैठकर भोजन करते हैं। ऐसे घरों में कितना आनन्द होता होगा, कैसी प्रेम की गंगा प्रवाहित होती होगी ? तो यह सब संगति का ही प्रताप है। यदि ये बहिनें अच्छी संगति से, अच्छे संस्कार लेकर आएँ तो घर में संप बनाये रखकर उसे स्वर्गतुल्य बना सकती हैं और सबका कल्याण कर सकती हैं। नये घर में आते समय वे 'निस्सहि' कहकर, अर्थात् मन के सारे मैल और कचरे को छोड़कर यदि आती हैं तो वह घर स्वर्ग बन जाता है। लेकिन यदि वे कचरे को साथ में लाती हैं तो फिर घर में महाभारत की स्थिति बन जाती है।

तो रुक्मकंवर शिशुपाल की संगति के कारण कृष्ण से शत्रुता का भाव अपने मन में रखता था। शिशुपाल के मन में कृष्ण के प्रति वैर होने का एक अन्य व्यक्तिगत कारण भी था। जब शिशुपाल का जन्म हुआ था तब ज्योतिषी उसकी कुण्डली बनाने को पहुँचे। कुण्डलियाँ बनाई गईं। एक ज्योतिषी ने उसकी कुण्डली बनाकर कहा—

"राजमाता ! ऐसे तो यह बालक बड़ा भाग्यशाली होगा, परन्तु ……।"

इस 'परन्तु' को राजमाता ने पकड़ लिया और पूछा—'साफ-साफ बताइये ज्योतिषी जी ! इस परन्तु से आपका क्या आशय है ? ज्योतिषी ने बात टालनी चाही, लेकिन राजमाता नहीं मानी। तब उस ज्योतिषी ने विवश होकर स्पष्ट भविष्य कथन कर देना ही उचित समझा और कहा—

'राजमाता ! अपराध क्षमा हो, किन्तु इस बालक का अन्त वासुदेव श्रीकृष्ण के हाथों होगा।'

द्वारिका नगरी में ऐसी स्थिति नहीं थी वहाँ श्रीकृष्ण थे। शिक्षण की दृष्टि से भी वहाँ कोई अभाव नहीं था। सभी प्रकार का शिक्षण वहाँ दिया जाता था। कहने को आज भारत में सैकड़ों और हजारों कालेज हैं। किन्तु इनमें जो शिक्षा दी जाती है वह एकांगी है, अपूर्ण है। इसके विपरीत द्वारिका नगरी में चाहे कालेज न रहे हों, किन्तु सभी प्रकार की शिक्षा, जिसमें धर्म की शिक्षा भी सम्मिलित थी, योग्य आचार्यों द्वारा शिष्यों को प्रदान की जाती थी।

आखिर मैं इस द्वारिका का वर्णन आपके समक्ष क्यों रख रहा हूँ ? इसलिए, कि आप भी अपने नगर के विषय में विचार कर सकें। आप सोचें कि क्या आपने अपने बालकों की शिक्षा के लिए समुचित व्यवस्था कर रखी है ? व्यावहारिक एवं आर्थिक समस्या की पूर्ति के लिए स्कूल-कालेज तो हैं, किन्तु क्या उतना ही पर्याप्त है ? क्या अपनी सन्तान का नैतिक धरातल ऊपर उठाने का गम्भीर दायित्व आपका नहीं है ? क्या आप अपने इस दायित्व को पूर्णतया निभा रहे हैं ? क्या इस नगर में धार्मिक शिक्षण का पूरा प्रबन्ध है ? क्या यहाँ उपस्थित कोई व्यक्ति धार्मिक शिक्षण ले रहा है ?

आप सब मौन हैं। अथवा मौन प्रकट कर रहा है कि ऐसी व्यवस्था आपने नहीं कर रखी है। तो यही चिन्ता की बात है। आप इस कमी का अनुभव ही नहीं कर रहे हैं। अपने बालकों को केवल आर्थिक-शिक्षण देकर आप अपने कर्तव्य की इतिश्री मान रहे हैं। किन्तु यह आपकी भयानक भूल है। आप नहीं जानते, आप सोचते तक नहीं कि आपके बालक भविष्य में क्या करेंगे ? उनके जीवन का क्या होगा ? आपकी शक्ति, आपका पाप, धन में व्यय हो रहा हो तो वह क्या चिन्ता और दुःख की बात नहीं है ?

आज राष्ट्र की जो स्थिति है वह आपसे छिपी हुई नहीं है। उसका कारण क्या है ? उसका सबसे बड़ा कारण यही है कि आप अपने बालकों को अपने छात्रों को, इस राष्ट्र की भावी पीढ़ी को उचित शिक्षा नहीं दे रहे हैं और परिणामस्वरूप वे अनैतिक जीवन की ओर आँखें बन्द करके भागे चले जा रहे हैं—उस दिशा में, जिस दिशा में अन्धकार के भयानक गर्त हैं।

यह सुनकर शिशुपाल की माता ने सोचा कि कृष्ण तो मेरा भतीजा है। मैं उसके पास जाकर शिशुपाल की रक्षा का वचन माँगूगी। यह निश्चय करके वह कृष्ण के पास गई और उसने बच्चे को झोली में रखकर अपने हाथ कृष्ण के सामने भिक्षा के लिए फैला दिये।

यह देखकर कृष्ण ने कहा—'भुआजी ! आप यह क्या कर रही हैं ? आप मेरी भुआ होकर मेरे सामने हाथ क्यों फैला रही हैं ?' तब शिशुपाल की माता ने कहा—'कृष्ण, मैं तुमसे भिक्षा माँगती हूँ।'

'कैसी भिक्षा ?'—कृष्ण ने पूछा।

"इस बालक के अपराध क्षमा किये जायँ।"— माता ने कहा। तब कृष्ण ने फिर पूछा—'यह तो मेरा भाई है। और इसने अभी तो कोई अपराध किया भी नहीं है। तब क्षमा कैसी ?' तब माता ने कहा—'अभी तो इसने कोई अपराध नहीं किया। किन्तु बड़ा होकर, कुसंगति में पड़कर यदि यह कोई अपराध कर बैठे तो तुम इसे क्षमा करना। बस यही भिक्षा मैं तुमसे माँगने आई हूँ।'

श्रीकृष्ण ने परम उदार होकर अपनी भुआ को वचन दिया—"मैं इसके एक या दो नहीं, बल्कि निन्यानवे अपराध क्षमा कर दूँगा। बस, अब आप शान्तिपूर्वक पधारिये।"

शिशुपाल की माता परम सन्तुष्ट होकर लौट आई। किन्तु शिशुपाल जब बड़ा हुआ और उसे इस सारी घटना के विषय में मालूम पड़ा तो वह अपने अहंकार में कहने लगा कि वह मेरे निन्यानवे अपराध क्षमा करेगा, तो क्या मैं कोई भिखारी हूँ। अरे मैं भी उसी के समान एक राजा हूँ। मेरे अधीन भी और बहुत से राजा हैं। मुझे कृष्ण की कोई परवाह नहीं है। मैं उस ग्वाले से डरने वाला नहीं हूँ, आदि।

इसी प्रकार की बातें वह रुक्मकुंवर के सामने किया करता था और कृष्ण की बुराइयाँ जी भर कर किया करता था। इसी कुसंगति के कारण रुक्मकुंवर भी कृष्ण के विरुद्ध हो गया था।

तो महाराज भीमनरेश तो ज्ञानी थे। उन्होंने देखा कि सभा में उपस्थित अन्य सभी लोग उनके प्रस्ताव को सुनकर प्रसन्न हो उठे हैं, किन्तु अकेला राजकुमार अप्रसन्न दीख रहा है। अप्रसन्नता, असंतोप और द्वेप के भाव उसके चेहरे पर स्पष्ट प्रगट हो रहे हैं। तो महाराज ने अपने पुत्र के इस मानसिक रोग को वाहर निकाल देने के लक्ष्य से उससे स्पष्ट पूछ लिया—'क्यों राजकुमार! तुम शायद कुछ कहना चाहते हो। स्पष्ट कहो। क्या मेरा प्रस्ताव तुम्हें योग्य प्रतीत नहीं हुआ ?

पिता का प्रश्न सुनकर राजकुमार का मुँह और भी फूल गया। उसने कहा—'पिता जी' इस विपय को आप यहीं समाप्त कर दीजिए। आपकी अवस्था भी अब काफी हो गई है। अतः आप वहिन के विवाह का उत्तरदायित्व अपने ऊपर मत लीजिए।

पुत्र का यह कटु उत्तर सुनकर भी महाराज ने तनिक भी वुरा न मानते हुए उसे समझाने और मानसिक विचार को दूर करने की दृष्टि से पुनः कहा—

'राजकुमार, मन्त्री के कहने से मैंने तो अपना विचार सबके सामने रखा है। यह मेरा निर्णय नहीं है। तुम सब लोग इस पर चिन्तन करो और अन्तिम निर्णय राजकन्या से भी ले लो, ऐसा ही मैंने कहा है। तो इस विपय में तुम्हारे भी जो विचार हों, उन्हे तुम सवके सामने निस्संकोच रख सकते हो।'

यह सुनकर राजकुमार ने कहा—'पिता जी' ! अव मैं क्या कहूँ ? आपने तो पहले ही अमंगलाचरण कर दिया है।'

पुत्र के ऐसा कहने पर राजा ने फिर से धैर्य सहित पूछा—

'मैंने कौन सा अमंगलाचरण किया है ?

'मैं कृष्ण को पसन्द नहीं करता' —बड़ी ही कटुता के साथ राजकुमार ने उत्तर दिया।

महाराज भीमनरेश बड़े धैर्यवान थे। वे प्रखर बुद्धि के स्वामी भी थे। अतः वे शान्ति के साथ बोले—

'राजकुमार' ! मेरी बात ध्यान से सुनो। यदि तुम कृष्ण के साथ अपनी बहिन का विवाह नहीं करना चाहते तो भले ही मत करना। यह आगे की बात है। किन्तु किसी महापुरुष की निन्दा करने का पाप तो अपने सिर पर मत ओढ़ो। ऐसे त्रिखंडाधिपति का यदि तुम गुणगान नहीं कर सकते तो मत करो, किन्तु कम से कम उनकी झूठी निन्दा तो मत करो। तुम्हारे लिए यह योग्य बात नहीं है। क्या तुम बता सकते हो कि कृष्ण में कौन सा दूषण है, जिस कारण से तुम्हारा मन इस प्रकार चंचल हो रहा है और तुम्हारे हाथ-पैर और होठों में कम्पन भी हो रहा है ? तुम आखिर इतने उत्तेजित क्यों हो ? या तुम्हारी इस उत्तेजना का कोई आधार भी है ? या तुम निराधार ही एक महापुरुष की झूठी निन्दा करने के दोष के भागी बनना चाहते हो ?

'राजकुमार ! मैं कृष्ण के विषयमें जानता हूँ। मैंने उनका अनुभव किया है। मैंने किसी भी स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, सर्वथा निस्वार्थ दृष्टि से बेटी के मंगलमय भविष्य की शुभ कामना करते हुए ही यह प्रस्ताव रखा है। फिर भी मेरा कोई आग्रह नहीं। मैं सबकी बातों को मिलाना चाहता हूँ और बेटी जो कि हमारे घर में लक्ष्मी के रूप में आई है, उसकी राय भी मिलाना चाहता हूँ। इसके जन्म लेते ही हमारे घर में और राज्य में सब प्रकार से सुख-समृद्धि की वृद्धि हुई है और मंगलमय स्थिति उत्पन्न हुई है। यह पुण्यात्मा है। इसी दृष्टि से मैं यह बात कह रहा हूँ।

अतएव, राजकुमार ! तुम अपने मन की बात स्पष्ट रूप से कहो और बताओ कि तुम कृष्ण में क्या दूषण देखते हो।

किन्तु मैं तुम्हें साथ ही साथ सावधान भी करता हूँ, और सलाह भी देता हूँ, कि किसी महापुरुष की निन्दा से बचो।'

अत्यन्त शालीनता और स्नेहपूर्वक महाराज भीमनरेश ने ये वचन कहे और अपने पुत्र की बात तथा उसका अभिप्राय जानने के लिए वे सचेष्ट हुए। वे जानते थे कि कुसंगति के कारण ही राजकुमार के मन में कृष्ण के प्रति हीन भावनाएँ भर गई हैं। अतः उसके मन के इस विचार को निकल जाने का अवसर प्रदान करना चाहिए।

राजा के मौन हो जाने पर मन्त्री ने राजकुमार को सम्बोधित करके निवेदन किया कि वे अपने मन के विचार सभा के सम्मुख उपस्थित करें। उपस्थित सभासद भी ध्यानपूर्वक राजकुमार की बात सुनने के लिए तत्पर हो गये। राजकुमार क्या कहते हैं—वे कृष्ण की निन्दा क्यों करते हैं, यह जानने के लिए सभी उत्सुक बन गये थे।

इस समय आज मैं आपसे इतना ही कहूँगा कि आप महाराज भीमनरेश को अपना आदर्श बना कर चलिए, निंदक राजकुमार को नहीं। यदि आप पाँच अभिगमन के साथ अपने जीवन को चलाएँगे तो अपना जीवन उत्कर्ष की ओर जा सकेगा। —इत्यलम्।



१५ | आहार और आत्मा

असंखयं जीविय या पमायए

—श्री अरहनाथ भगवान की प्रार्थना—

"धर्म परम अरहनाथ ने.......

ये प्रभु अरहनाथ भगवान की प्रार्थना की कड़ियाँ हैं। परमात्मा के अनेक नामों में से एक अरहनाथ भी है। 'रह' का अर्थ है—छिपा हुआ। और 'अ' लग जाने से 'अरह' हो जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि अरहनाथ भगवान से इस विश्व का कोई पदार्थ छिपा हुआ नहीं है। संसार के प्रत्येक तत्व को वे आदि से अन्त तक, वह जैसे भी रूप में है, उसी रूप में देखने वाले हैं ऐसे प्रभु अरहनाथ के परम धर्म को समझने के लिए इस प्रार्थना की कड़ियों में संकेत किया गया है कि प्रभु के उस तत्व को किस प्रकार ज्ञात किया जाय ? ऐसा वह कौन सा धर्म है, जिसके आचरण द्वारा हम भी अरहनाथ भगवान की भांति समग्र पदार्थों को जान सकें।

जिज्ञासा की वृत्ति मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वह चाहता है कि कोई भी पदार्थ उससे अज्ञात या छिपा हुआ न रहे। किन्तु केवल इस जिज्ञासा के होने से तो सफलता मिल नहीं सकती। इस जिज्ञासा के साथ ही निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता है, वह प्रयत्न बहुत थोड़े लोग कर पाते हैं। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य में वह शक्ति विद्यमान है, लेकिन मनुष्य उस शक्ति को भुला बैठा है और संसार के अन्य असार पदार्थों के संचय में ही रत रहने लगा है। इसी कारण उसके जीवन में अशान्ति बनी हुई है और शान्ति की मंजिल से वह दूर हो गया है।

जो भी व्यक्ति इस शान्ति को प्राप्त करना चाहता है और अरहनाथ भगवान के तुल्य शक्ति को प्राप्त करना चाहता है, उसे भगवान के परम धर्म को समझना होगा। इसीलिए कवि ने संकेत दिया है—"परम धर्म अरहनाथ ने........!"—भगवन्! आपका वह परम धर्म मैं कैसे जानूं ? स्व पर की दृष्टि से वह धर्म मुझे समझाइये। तो जो भी व्यक्ति भगवान अरहनाथ के तुल्य बनना चाहता है, उसे उस परम धर्म को स्व पर के ज्ञान के साथ जानना चाहिए।

स्व-समय और पर-समय की स्थिति को काल की दृष्टि से नहीं लेना है। यहाँ स्व समय से तात्पर्य है आत्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन और पर-समय का तात्पर्य आत्मा से भिन्न जो पदार्थ हैं, उनके प्रतिपादन से है। ये पदार्थ नाशमान हैं, उन नाशमान तत्त्वों का भी एक सिद्धान्त है—वह सिद्धान्त नाशमान तत्त्वों ने नहीं बनाया, वे तो जड़ स्वरूप हैं। परन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा ने अपनी समग्र शक्ति का विकास करके जड़ के अन्दर रहने वाले स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। इन चैतन्य से शून्य जड़ पदार्थों में जो भिन्न-भिन्न धर्म बताये गये हैं वे आध्यात्मिक दृष्टि से न होकर उन वस्तुओं में रहने वाले वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और वस्तु स्वभाव की दृष्टि से हैं। कहा है—"**वत्थु सहावो धम्मो।**" वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। उसे बताने वाला चैतन्य स्वरूप है। वह चैतन्य जिसने कि स्व-समय के परम धर्म को पूर्णरूप से प्राप्त कर लिया है। कहा गया है—

"परम साध्य......................स्व-समय......................उत्तम।"

जो शास्त्र आत्मा की साध्य अवस्था को प्राप्त करा देता है वह स्व-समय है। वह स्वसमय अनुपम है। उनके लिए कोई भी उपमा नहीं दी जा सकती उनके समान अथवा उनसे बढ़कर कोई भी उत्तम तत्व नहीं है। उस स्वरूप को व्यक्त करते हुए मानतुंग आचार्य ने लिखा है—"सूर्यातिशायि महिमासि मुनीन्द्र! लोके।"

भगवन्! आपकी महिमा अनुपम है। इस विश्व में आपकी महिमा का गुणगान करने के लिए योगी लोग अपनी योग साधना के बल से चलते रहें,

किन्तु फिर भी आपकी महिमा का ज्ञान वे पूर्णरूप से नहीं कर सकते। हे मुनीन्द्र !—मुनियों में इन्द्र के समान—आपकी महिमा की उपमा देने के लिए कोई तत्व नहीं है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, जो कि इन चर्म-चक्षुओं से दिखाई दे रहे हैं, जिन्हें मनुष्य अपने हाथ से छू रहा है, कान से सुन रहा है, जीभ से चख रहा है, नासिका से सूंघ रहा है और स्पर्श-इन्द्रिय से स्पर्श कर रहा है,—ये सभी पदार्थ नाशमान होने के कारण, उनकी उपमा आपकी शान्ति से नहीं दी जा सकती है। आप तो परम साध्य समापन्न हैं। आप शाश्वत, ध्रुव, अटल शान्ति को प्राप्त कर चुके हैं। अतः नाशमान पदार्थों के साथ आपकी तुलना किस भांति दी जा सकती है ?

उपमा देने के प्रयत्न द्वारा संसार को प्रभु का स्वरूप कुछ समझाने की दृष्टि से कहा गया है कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे अन्धकारपूर्ण हैं। हाँ, दीपक की लौ प्रकाशयुक्त है। और प्रकाशयुक्त तत्व की उपमा यदि प्रकाश के अनन्त पुंज भगवान से दी जाय तो कुछ संकेत मनुष्य को प्राप्त हो सकता है। लेकिन दीपक की लौ के साथ भगवान की उपमा देने का विचार करने पर कवि ने सोचा कि नहीं, यह उपमा तो ठीक प्रतीत नहीं होती। क्योंकि दीपक तो तेल, बत्ती आदि सामग्री की सहायता से ही प्रकाशित होता है। जब वह सामग्री समाप्त हो जाती है तो वह बुझ जाता है। तो प्रभु की दिव्य, अखण्ड ज्योति से ऐसी क्षणिक ज्योति की उपमा कैसे दी जाय ?

आगे विचार की शृंखला चली तो कवि ने सोचा कि बिना किसी सामग्री की सहायता अथवा आधार के तो आकाश के तारे चमकते हैं। यदि प्रभु की उपमा इन तारों से दी जाय तो कैसा हो ? किन्तु अनुसन्धान आगे चलता है और कवि को विचार आता है कि तारे तो केवल रात्रि में ही टिमटिमाते हैं और प्रातःकाल छिप जाते हैं। जब कि प्रभु की दिव्य ज्योति तो अखण्ड प्रकाशित रहती है। अतः यह उपमा भी ठीक नहीं है।

आगे सोचा गया कि तारों से बढ़कर चन्द्रमा है। वह शीतल भी है। किन्तु चन्द्रमा में यह कमी है कि वह भी पाण्डुवर्ण हो जाता है। सूर्य के

उदय होने पर वह फीका पड़ जाता है। उसकी ज्योति घटती-बढ़ती भी रहती है। अतः प्रभु की ज्योति की तुलना चन्द्र से भी नहीं हो सकती।

ऐसी स्थिति में सूर्य से यदि प्रभु की उपमा दी जाय तो कैसा रहे? सूर्य का प्रकाश इन सबसे बढ़कर है। किन्तु नहीं, सूर्य की उपमा भी भगवान के लिए उपयुक्त नहीं कही जा सकती। क्योंकि यद्यपि उसका प्रकाश तेज है, लेकिन वह संसार को बहुत ताप और कष्ट भी देता है। ग्रीष्म ऋतु में यदि कोई व्यक्ति धूप में खड़ा हो जाय तो उसका शरीर जलने लगे। इसके अतिरिक्त सूर्य भी उदित होता है और अस्त हो जाता है। तथा सूर्य पर भी आवरण आ जाता है, उसे भी ग्रहण लग जाता है। जब कि प्रभु तो अनन्त निरावरण शक्ति से सम्पन्न हैं। उनके प्रकाश को कोई छिपा नहीं सकता।

तो कवि सोचता है कि भगवन्! मेरी दृष्टि में यह तो चमकता हुआ सूर्य है, ऐसे अनेक सूर्य, बल्कि ऐसे अनन्त सूर्य भी यदि एक तरफ हों और दूसरी ओर आपकी आत्मा के स्वरूप का प्रकाश हो तो भी वे अनन्त सूर्य आपके अनन्त प्रकाश की तनिक भी समानता नहीं कर सकते।

तब आखिर आपके परम धर्म का स्वरूप मैं अपनी कल्पना में कैसे लाऊँ?

तो उस अनन्तशक्ति स्वरूप को जिस समय मैं स्व-समय के रूप को समझ लूंगा, तभी किसी सीमा तक जान सकूँगा।

अतः बन्धुओ! भगवान अरहनाथ के परम धर्म का स्वरूप हमारे हृदय में तभी अवकाश पा सकता है जबकि हम स्व-समय और पर-समय की दृष्टि को अपने जीवन में पूर्व स्थान दें। ऐसी दृष्टि बना लेने पर ही हम इन नाशवान पदार्थों के चक्र से छूट सकते हैं और अपने अज्ञान के आवरण को हटाकर अपने ही दिव्य स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं।

भाइयो! शास्त्रों में ज्ञान का भण्डार भरा पड़ा है। उसका उपयोग करना हमारे हाथ में है। जितना भी दोहन हम इनका करें, उतना ही अमृत हम प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए बार-बार मैं आपका ध्यान इस शास्त्रीय गाथा की ओर ले जाता हूँ—

"तस्सेस मग्गो गुरु विद्धसेवा.........।"

मूल गाथा की दृष्टि से जो आत्मा की बात चल रही है तो बताया गया है कि मानव ! यदि तू अपने जीवन में शान्ति के स्वरूप को समझना चाहता है तो भगवान अरहनाथ के परम धर्म को जीवन में स्थान दे और उस परम धर्म को यदि जीवन में साकार रूप देना है तो वह स्व-समय का स्वरूप, सिद्धान्त की दृष्टि मन-मस्तिष्क में प्रवेश करनी चाहिए।

किन्तु यह कैसे हो सकता है ? तो ऐसा सम्भव बनाने के लिए सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। इस चिन्तन से जिस रस की उत्पत्ति होगी उससे जीवन की मुरझाती हुई बगिया को फिर से हरा-भरा बनाया जा सकता है। आप प्रायः देखते हैं कि मनुष्य ऊपर से देखने में तो बड़ा प्रफुल्ल चित्त, प्रसन्न एवं स्वस्थ दिखाई देता है, किन्तु भीतर ही भीतर वह मुरझाया हुआ चिन्तित एवं मानसिक रूप से अस्वस्थ होता है। कुछ निमित्त होने पर वह थोड़ी देर के लिए प्रसन्न होता है, किन्तु फिर कुछ ही समय पश्चात् वापिस कुम्हला जाता है। मानव की आज की दशा यही है। इसका कारण यही है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते और इस हाड़-मांस के पुतले को ही सब कुछ मानकर 'क्षणे रुष्टाः, क्षणे तुष्टाः'—अर्थात्, क्षण में रुष्ट और क्षण में तुष्ट होते रहते हैं। परम तत्व को समझने की चेष्टा जो आत्माएं नहीं करती उनकी ऐसी ही दशा होती है। वे इन नाशमान पदार्थों से ही चिपकी रहती हैं। इस प्रकार वे अपनी वास्तविक, विशाल प्रसन्नता को नहीं जान पातीं। इस स्थिति से बचने के लिए सूत्र-अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। यह चिन्तन किस प्रकार किया जाय ?

इसके लिए मैं कह चुका हूँ कि जहां कहीं नय-निक्षेप, प्रमाण की स्थितियां हैं तो उनको ध्यान में रखते हुए चिन्तन किया जाय। वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए नयों का ज्ञान भी अवश्य होना चाहिए। यह केवल स्व-समय का ही नहीं, पर-समय का ही नहीं, परन्तु वर्तमान की मुरझाहट को समझने के लिए भी आवश्यक है।

आज मनुष्य का आत्म-ज्ञान रूपी दीपक बुझ रहा है। फिर यदि उसके

भीतर वह परम साध्य का सिद्धान्त प्रवेश कर जाय और वह दृढ़ता के साथ अचलता की ओर आ जाय तो वह दीपक पुनः आलोकित हो सकता है। इसी के लिए सूत्र-अर्थ के चिन्तन की आवश्यकता है। ऐसा होने से वह प्रकाश तीव्र बनेगा। मनुष्य की बुद्धि परम स्वरूप का द्योतन करने वाली है। वह शक्ति आपके पास है। उस शक्ति को आगे बढ़ाइये और अनुसन्धान में दत्त-चित्त हो जाइये तो वह दीपक जलेगा और उसका प्रकाश चारों ओर फैलेगा।

मैं आपको शान्तिनाथ भगवान का स्वरूप बता रहा हूँ। आपको समझने में कुछ कठिनाई हो सकती है और आप सोच सकते हैं कि यह स्व-समय और पर-समय क्या है ? किन्तु घबराइये नहीं। शान्तिपूर्वक इन शब्दों के अर्थ और मर्म को समझने की चेष्टा कीजिये। तभी आप शास्त्रों के ज्ञान का लाभ ले सकेंगे। शास्त्रों को तो कामधेनु की उपमा दी जा सकती है। इससे आप इच्छानुसार दूध प्राप्त कर सकते हैं। वैसे यह उपमा पूर्णतया योग्य नहीं है। इसी प्रकार चिन्तामणि रत्न की उपमा यदि शास्त्र को दी जाय तो वह भी पूर्णतया उपयुक्त नहीं ठहरती। हाँ, यदि शास्त्र को चैतन्य चिन्तामणि खजाने की उपमा दें तो वह कुछ उपयुक्त कही जा सकती है। प्रतिदिन नवीन से नवीन सारतत्व इससे प्राप्त किया जा सकता है।

किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि शास्त्र के अध्ययन से अभिप्राय केवल अक्षर-वाचन से ही नहीं लेना है। क्योंकि अक्षर तो मात्र निमित्त हैं। वे तो कुछ भी अपने आप में बोलते नहीं। किन्तु उनमें रहने वाला जो अर्थ है, उसके दोहन की कला आनी चाहिए। वह कला और शक्ति आत्मा के पास ही हो सकती है। आत्म-स्वरूप सत्चित, आनन्दघन से परिपूर्ण है। इस उच्च स्थिति तक पहुँचने के लिए सबसे पहले उचित भूमिका का निर्माण होना चाहिए। इसके लिए बुद्धि का निर्मल होना आवश्यक है। निर्मल बुद्धि से ही शास्त्र का अर्थ निकल सकता है, दोहन हो सकता है, स्व-समय का साध्य पहिचाना जा सकता है।

इस दृष्टि से मानव-तन का महत्व अत्यधिक है। इसीलिए कहा गया है

द्वारिका नगरी का वर्णन मैं आपके सामने इसी उद्देश्य से कर रहा हूँ कि आप यह भली प्रकार से जान सकें कि उस नगरी की क्या विशेषताएँ थीं और उसे स्वर्ग के समान क्यों माना जाता था ? द्वारिका नगरी को स्वर्ग की उपमा देने का तात्पर्य यही है कि वहाँ के निवासी धर्मनिष्ठ थे, उनका आचरण ऐसा श्रेष्ठ और पवित्र था कि देवता भी उसे देखकर ईर्ष्या कर उठें। और इस श्रेष्ठता के मूल में जो बात थी वह था धार्मिक शिक्षण। वहाँ के निवासियों को धर्म तथा नैतिकता का शिक्षण पूर्ण रूपेण प्रदान किया जाता था। इस प्रकार वह नगरी इस दृष्टि से स्वर्गपुरी से भी आगे बढ़ जाती थी। क्योंकि स्वर्गपुरी में भी धर्मशिक्षा का तो अभाव ही है।

हमारा राष्ट्र धर्म निरपेक्ष राज्य है। एक सीमा तक यह ठीक हो सकता है। इसमें कोई हानि नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता हो कि वह अपनी रुचि एवं विचारों के अनुसार अपने धर्म को माने। किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि धर्म का लोप ही हो जाय। अतः यह अनिवार्य है कि हम अपने बालकों को धर्म की शिक्षा दें, जिससे कि वे स्वयं अपने जीवन का कल्याण कर सकें तथा अपने समाज एवं राष्ट्र को ऊँचा उठा सकें।

धर्ममय आचरण के लिए तो देवता भी लालायित रहते हैं। उनकी यह इच्छा बनी रहती है, वे चिन्तन करते हैं कि उन्हें इस पृथ्वी पर निवास करते हुए धार्मिक जीवन व्यतीत करने का सुअवसर प्राप्त हो। यहाँ जन्म लेकर वे चाहे किसी सेठ के रूप में रहें अथवा दास-दासी के रूप में ही क्यों न रहें, किन्तु जन्म इस पृथ्वी पर मिलना चाहिए और मनुष्य-देह में रहकर धार्मिक आचरण कर सकने का अवसर प्राप्त होना चाहिए, ऐसी उत्कट आकांक्षा देवताओं की भी रहती है।

बन्धुओ ! विचार कीजिए कि क्या यह दुर्लभ मानव-जीवन प्राप्त करने के पश्चात् भी जिसके लिए कि देवता भी तरसते हैं, आप अपने जीवन को सही दिशा में ले जा रहे हैं अथवा नहीं ? क्या आप अपने कुल की रीति के अनुसार धर्ममय जीवन व्यतीत कर रहे हैं ? यदि आप ऐसा नहीं कर रहे हैं तो आप स्वयं के प्रति घोर अन्याय कर रहे हैं तथा अपने समाज एवं राष्ट्र

कि बिना मानव तन के यह दोहन नहीं हो सकता है। वह मक्खन प्राप्त नहीं हो सकता है। और मानव शरीर जब है तब मानव शरीर के साथ लगने वाला जो तत्व है उसका संकेत भी शास्त्रों ने दिया है और कहा गया है कि गुरु के पास बैठकर शास्त्रों का चिन्तन-मनन करना चाहिए और बुद्धि को तामसिक या राजसीवृत्ति से हटाकर सात्विक वृत्ति की बनाकर ही ऐसा अध्ययन करना चाहिए।

कहा गया है—"मितमेषणीयं आहार मिच्छेत् ··· ······।" आहारमिच्छे-मियमेसणिज्जं मनुष्य-जीवन में आहार का महत्व भी कम नहीं है। भोजन ऐसा करना चाहिए जिससे हमारी आत्मिक शक्ति का विकास हो। भोजन करना तो सहज ही है। किन्तु वह भोजन कैसा करना, कितनी मात्रा में करना और किस समय करना इत्यादि बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इन बातों का समुचित विचार किये बिना ही यदि कोई मनुष्य जो जी में आये वही पदार्थ खाता रहता है तो उसके भोजन करने और पशु के भोजन में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। एक पशु घास खाता है, बिनौला खाता है। आप कहते हैं कि पशु बाँटा खा रहा है। किन्तु आप जब कोई पदार्थ स्वयं खाते हैं तो कहते हैं कि हम भोजन कर रहे हैं। देखा जाय तो जो दूध आप पीते हैं या जो वेजीटेबिल घी आप खाते हैं, वह घास का ही पदार्थ है। लेकिन पशु के तथा आपके खाने में अन्तर क्या है? आपके भोजन की विशेषता क्या है जिससे कि आप पशु के खाने तथा अपने भोजन करने में फर्क करते हैं?

एक अन्तर तो यह है कि बेचारा पशु एक यन्त्र की तरह खाता है और जिधर कोई हाँक दे, उधर ही चला जाता है। उपयोगिता और अनुपयोगिता की बात को वह नहीं समझता है।

इसी प्रकार "आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च"—आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये चारों बातें मनुष्य तथा पशु दोनों में ही पाई जाती हैं। किन्तु फिर भी हम पशु से अपने को भिन्न मानते हैं और उनके आहार को घास-दाना कहते हैं और अपने आहार को भोजन। यह अन्तर आत्मिक आहार

पर करते हैं ? पशु भी नींद लेता है, आप भी सोते हैं। बल्कि अधिकांश में देखा जाय तो पशु मनुष्यों से अधिक सुखपूर्ण, शान्तिपूर्ण निद्रा ले पाता है। सूखी, कड़ी धरती पर भी वह निश्चिन्त होकर सो जाता है, जबकि मनुष्य को नर्म बिछौनों पर भी नींद नसीब नहीं होती। इसी प्रकार से भय और मैथुन की भी स्थिति है। तब आखिर पशु के खाने और अपने भोजन में आप अन्तर किस प्रकार समझ सकते हैं ?

वह अन्तर इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि मनुष्य जो कुछ भी कार्य करता है, वह परम धर्म के लक्ष्य को लेकर करता है। वह जो कुछ भी भोजन करता है वह सात्विक होता है, मित और ऐपणिक होता है तथा शरीर की रक्षा करते हुए उसकी आत्मा को उच्चतम शुद्धता की स्थिति की ओर ले जाने वाला होता है। यदि कोई मनुष्य इस स्थिति के विरुद्ध चलता है और अखाद्य खाता रहता है, असमय खाता रहता है, तो उसकी स्थिति एक पशु की स्थिति से बेहतर कभी नहीं हो सकती। ऐसे मनुष्य के लिए तो यही कहना होगा कि वह आहार ग्रहण नहीं करता, बल्कि घास खाता है।

अतः बन्धुओ ! अपनी मानव-स्थिति को जानिये और प्रमाणित कीजिये कि आप पशु से श्रेष्ठ हैं। मनुष्य के हृदय में जो धर्म है, वही उसे पशु से भिन्न एवं श्रेष्ठ सिद्ध कर सकता है। अतः जब भगवान अरहनाथ का परम धर्म मनुष्य में आ जाता है तभी वह उसकी वास्तविक मानव-स्थिति होती है। उसी स्थिति में मनुष्य का खाना, भोजन अथवा आहार है। ऐसा आहार मित और ऐषणिक होना चाहिए। जो मनुष्य भक्ष्य-अभक्ष्य का तथा हिताहित का बोध नहीं रखता वह पशु से उत्तम किस प्रकार से कहा जा सकता है ?

उत्तम मानव स्थिति में रहने के लिए संगति एक महत्वपूर्ण हिस्सा निभाती है। महाराज की राज्यसभा में युवराज रुक्मकंवर एक ऐसा व्यक्ति था जो राज-परिवार में उत्पन्न हुआ था, उसे अच्छी शिक्षा दिलाई गई थी, किन्तु कुसंगति में पड़ जाने के कारण उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी और वह धर्म से शून्य था। स्वयं अपने हिताहित का ज्ञान उसे नहीं था। इसी दोष के

कारण वह त्रिखंडाधिपति वासुदेव जैसे महापुरुष के लिए भी असम्मानजनक शब्द बोलने में नहीं हिचकिचाया । महाराज भीमनरेश ने जब उससे पूछा कि वह वासुदेव कृष्ण में क्या दोष देखता है, तब वह बोला—

"कृष्ण में अनेक दोष पाए जाते हैं । वह ग्वाला है, गाएँ चराने वाला है । गोकुल में रहकर उसने ग्वालों का झूठा खाया है । उसने मक्खन की चोरी की है''''इत्यादि ।"

बन्धुओ ! रुक्मकंवर ने कृष्ण की गाएँ चराने की स्थिति देखी किन्तु उनके अन्तःकरण को नहीं देखा । अन्तःकरण को देखने लायक बुद्धि ही उसमें शेष नहीं रही थी । आप स्वयं ही सोच सकते हैं कि क्या गाएँ चराने वाला या गायों की रक्षा करने वाला व्यक्ति किसी प्रकार से हीन है ? क्या उसमें कुछ अवगुण आ जाते हैं ? रुक्मकंवर को यह कार्य छोटा और हीन प्रतीत हुआ होगा । किन्तु सम्यग्दृष्टि रखने वाले कृष्ण की दृष्टि में सभी जीव समान थे । वे तो गायों को भी अपनी आत्मा के तुल्य ही देखते थे । इसीप्रकार से कृष्ण ने किसी का धन नहीं चुराया । बाल-लीला की दृष्टि से वे मक्खन खाते थे और दूसरे बालकों को खिलाते थे । उसमें उनकी भावना कोई चोरी की नहीं थी । किन्तु युवराज की दृष्टि पर तो एक ऐसा आवरण पड़ा हुआ था कि उसे कृष्ण के दोष ही दिखाई देते थे । श्रीकृष्ण की सम्यग् दृष्टि को वह समझ नहीं पाता था । इसी कारण से वह उनकी निन्दा कर रहा था । वह कहता था—"कृष्ण को अपना बहनोई बनाना तो दूर, मैं तो उसके पास बैठना भी पसन्द नहीं करता ।"

भाइयो ! रुक्मकंवर के ऐसा कहने के पीछे उसकी स्वयं की दृष्टि उतनी नहीं थी, जितनी कि कुसंगति का प्रभाव । शास्त्रों में कहा है कि जो दुष्ट आचार रखता है और दुर्व्यसनी है, वह भी बालक जन है । बाल-जीव है । ऐसे व्यक्ति के साथ जो अन्य व्यक्ति रहता है वह भी वैसे ही दुर्गुण ग्रहण कर लेता है । तम्बाकू पीने वाले के पास रहने वाला तम्बाकू पीना सीख जाता है । भंगेड़ी के साथ रहने वाला भंगेड़ी बन जाता है । इसी प्रकार

शिशुपाल के साथ रहकर रुक्मकंवर भी बिगड़ गया था और श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करने लगा था।

युवराज की ये अटपटी और अप्रिय बातें सुनकर उपस्थित सभी सभासद अशान्त हो रहे थे। किन्तु वे सभ्य थे। समझदार थे। वे जानते थे कि सभा में बिना आदेश के कुछ नहीं बोलना चाहिए और जब उनसे अपने विचार व्यक्त करने के लिए कहा जाय, तभी बोलना चाहिए। वे जानते थे कि सभा में स्वयं महाराज विराजमान हैं। वे बुजुर्ग हैं, ज्ञानी हैं। जैसी भी परिस्थिति होगी, उसका निराकरण वे स्वयं करेंगे।उनकी आज्ञा के बिना हमें एक शब्द भी नहीं बोलना चाहिए। अतः वे सब सभासद शान्त बैठे रहे।

महाराज भीम नरेश चाहते थे कि युवराज को समझाया जाय। वे राज्य पंडित थे। धर्म की दृष्टि रखने वाले थे। अतः वे युवराज के अप्रिय शब्दों से उत्तेजित नहीं हुए और उन्होंने अपने मस्तिष्क का सन्तुलन तनिक भी बिगड़ने नहीं दिया। अत्यन्त शान्ति एवं धैर्यपूर्वक उन्होंने मधुर वाणी में कहा—

"तुम अभी बालक हो। तुम श्रीकृष्ण के गुणों के विषय में जानते नहीं हो। पहले तुम उनके सम्पर्क में रहकर उनके विषय में जानकारी करलो, फिर उसके बाद में ही कुछ कहना। अभी केवल सुनी-सुनाई बातों को लेकर तुम जो कुछ भी कह रहे हो, वह अनुचित है। कुसंगति में रहने के कारण तुम ऐसा बोल रहे हो, यह ठीक नहीं है। देखो, उनकी शक्ति अपरम्पार है। खेल-कूद में वे तोड़-फोड़ करते थे तो माता यशोदा के बर्तन-भाँड़े ही तोड़ देते थे, अन्य जनता की हानि नहीं करते थे। इसी प्रकार यशोदा भी खेल-खेल में ही उन्हें मूसल से बाँध देती थी। किन्तु कौन नहीं जानता कि कंस की ओर से जब दुष्टा पूतना कृष्ण को मारने के लिए गई और अपने जहरीले दूध से उनके प्राण वह लेना चाहती थी तो उन्होंने ऐसा दूध पिया कि उस विद्याधरनी के प्राण भी वे दूध के साथ ही पी गए और पूतना उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकी।

"अस्तु, रुक्मकंवर ! उनकी महिमा अनन्त है। कुछ समझने का प्रयत्न करो। उनके दर्शन करके विचार करो। व्यर्थ ही ग्वाला-ग्वाला कहकर उनकी निन्दा करके पाप का संचय मत करो। वे स्वर्णमयी नगरी के स्वामी हैं, जिसका निर्माण स्वयं कुबेर ने किया है। नेमिनाथ और बलभद्र जैसे उनके भ्राता हैं। उन भाइयों में मानवता, भ्रातृ-प्रेम और धर्म भावना भरी हुई है। वे धर्म और न्याय नीति के साथ चलते हैं। उनका आहार ही वस्तुतः मानव का आहार है, क्योंकि वे मित और ऐषणिक आहार ग्रहण करते हैं। अतः पुत्र ! तुम उनके पास रहकर उन्हें जानने का प्रयत्न करो।"

महाराज भीमनरेश चाहते थे कि रुक्मकंवर एक अज्ञानी बाल-जीव ही न रह जाए। अतः वे प्रेम एवं धैर्यपूर्वक उसे समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। परिणाम क्या निकलता है वह अभी भावी के गर्भ में है। —इत्यलम् !



१६ | धर्म और धैर्य

असंखयं जीविय मा पमायए

--अरहनाथ भगवान की प्रार्थना

धर्म परम अरहनाथ ने........

प्रभु अरहनाथ भगवान के चरणों में यह प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण हुआ है। हमारी आत्मा में भी परिपूर्ण शक्ति का भंडार है। अरहनाथ भगवान की आत्मा में जो सम्पूर्ण स्वरूप विद्यमान है, वैसा ही हमारी आत्मा में भी है। एक पैसा तो क्या, एक पाई की भी कमी उसमें नहीं है। और एक पाई भी क्या, पाई के अनन्तवें भाग के बराबर भी कमी उसमें नहीं है। आवश्यकता इतनी ही है कि हमारी आत्मा भी अरहनाथ भगवान के स्वरूप को समझ कर उनके परम धर्म के मर्म को पहिचान जाय।

करना चाहिए। इस आत्मा रूपी कमरे में पंचेन्द्रियों के द्वार से जो कर्म रूपी रज भीतर प्रविष्ट होती है, उसे झाड़ पोंछकर बाहर निकाल देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो वह कर्म-रज एकत्रित होती रहती है और आगे जाकर भीषण दुःखों का कारण बन जाती है। बीज के रूप में जो कर्म-रज प्रविष्ट होता है, वही अंकुरित होकर विशाल रूप धारण कर लेती है। एक प्रकार का सिलसिला चालू हो जाता है जो कि भव-भवान्तर में अनर्थ का कारण बनता है।

यह सिलसिला तब तक चालू रहता है जब तक कि आत्मा अपने स्वरूप को अरहनाथ भगवान के तुल्य नहीं समझती। अतः प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने भीतर ऐसा दृढ़ विश्वास लेकर चले कि समग्र शक्ति परिपूर्ण रूप में उसकी आत्मा में छिपी हुई है और उस शक्ति को उसे प्रगट करना है। ऐसा ही लक्ष्य और ऐसा ही साध्य लेकर उसे चलना चाहिए। जो व्यक्ति रस-समय की दृष्टि से परम धर्म को समझने का प्रयास करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है वह आत्म विज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

मानव धर्म की परिभाषा अलग-अलग विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। कहा जाता है कि आज तक के इतिहास में ६०० से भी अधिक परिभाषाएँ धर्म की की जा चुकी हैं। इतना होने पर भी धर्म का समग्र स्वरूप समझ में नहीं आ सका है। चूंकि ये सब परिभाषाएँ अपूर्ण मनुष्य के द्वारा ही की गई हैं अतः वे परम धर्म के रूप को व्यक्त नहीं कर पाईं। इसीलिए अरहनाथ प्रभु के परम धर्म को समझना नितान्त आवश्यक है। धर्म की परिभाषा करते हुए यह भी कहा जाता है कि—"वत्थु सहाओ धम्मो।" —वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है।

आदि देने के काम में आता है। ऐसे समय में पानी का साधारण रूप न रह-कर विशेष रूप बन जाता है और उसके गुणधर्म में भी परिवर्तन आ जाता है। तो वस्तु स्वभाव शुद्ध और अशुद्ध अवस्था में भी है। शुद्ध अवस्था में जो वस्तु है, वही उसका स्वभाव माना जा सकता है।

आत्मा को भी वस्तु कहा जा सकता है। आत्मा का वस्तु स्वभाव परम विशुद्धता के रूप में, शुद्ध स्वभाव में रहा है। वह शुद्ध अवस्था रूप सहसा नहीं बन पाया है। इस विशुद्ध स्वभाव को विकसित करने के लिए परम धर्म रूप स्वभाव की आवश्यकता होती है। ऐसी परम शुद्ध, परम पूर्ण स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रभु अरहनाथ के परम धर्म के स्वरूप को जानना चाहिए।

जो व्यक्ति अपने उस–स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है उसे धर्म का स्वरूप समझने से पूर्व अपने दिल और दिमाग को पवित्र बनाते हुए यह निश्चय करना चाहिए कि मेरी आत्मा सिद्ध स्वरूप है, सिद्ध अवस्था के तुल्य है। मुझे अपनी वह वास्तविक स्थिति अवश्य प्राप्त करनी है। अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो दृढ़ निश्चय के साथ आगे बढ़ता है, जो ऐसा संकल्प शुद्ध रूप में करता है, वह स्व-समय में स्थित होता है।

किसी भी वस्तु का पूर्ण एवं सच्चा वर्णन करने के लिए नय-निक्षेप को समझना चाहिए। नय-निक्षेप के स्वभाव सूक्ष्म अवश्य हैं, किन्तु उसके विना वस्तु का वर्णन नहीं हो सकता। छोटी से छोटी वस्तु को भी समझने के लिए नयों की परिभापाओं का सहारा लेना पड़ता है। अपने समग्र रूप में वस्तु का स्वरूप तभी समझ में आ सकता है। यदि एकान्त दृष्टि से वस्तु अंकित की जाए और नयों की अवस्था न रखी जाय तो वस्तु स्वभाव समझ में नहीं आ सकता।

उदाहरण के लिए आप लोगों में से मैं किसी भी एक व्यक्ति का नाम लूं। मान लीजिए कि आपका नाम है चन्द्रकिशोर। तो क्या आपका नाम लेने से आपका सम्पूर्ण जीवन, आपका पूर्ण स्वभाव प्रगट हो जायगा ? नहीं। आपके अन्दर अन्य अनेक प्रकार के तत्व रहे हुए हैं। यह नाम तो और भी

अनेक लोगों का हो सकता है, जिसका स्वभाव भी भिन्न-भिन्न होगा। अब आपसे यदि पूछा जाय कि आप पिता हैं, या पुत्र? आप क्या उत्तर देंगे? आप पिता भी हैं, और किसी के पुत्र भी हैं। इसी प्रकार से आप किसी के भाई भी हैं, किसी के पति भी हैं। तो सोचिए कि आपके ये दो रूप या अनेक रूप कैसे हो गए? यह स्वरूप समझने के लिए आपको विभिन्न दृष्टि-कोणों—नयों की सहायता लेनी पड़ेगी। अपने पुत्र की दृष्टि से आप उनके पिता हैं। अपने पिता की दृष्टि से आप उनके पुत्र हैं। ये दोनों विपरीत स्थितियाँ हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टि से ये दोनों स्थितियाँ आप में हैं। इसी प्रकार बहिन की दृष्टि से आप भाई हैं, और पत्नी की दृष्टि से पति।

कथन का आशय यह हुआ कि वस्तु-स्वभाव ही पूर्ण धर्म की परिभाषा नहीं है। इसके पीछे नय लगाकर ही विश्लेषण किया जाना चाहिए। आपके स्वभाव और स्थिति का वर्णन करते हुए इस प्रकार अनन्त शब्द आपके पीछे लग जाएँगे फिर भी आपका स्वरूप पूरा प्रकट नहीं होगा। आपको दादा, पिता, पुत्र, पौत्र, भाई, पति, चाचा, मामा, भतीजा इत्यादि अनेक शब्दों द्वारा सम्बोधन किया जा सकता है। यों यह विषय न्याय का है। इसे समझने में कुछ कठिनाई आ सकती है, किन्तु इससे आपको लाभ अवश्य होगा।

एक बालक उत्पन्न होता है। माता उसे स्तनपान कराती है। वह अबोध बालक यह नहीं जानता कि इस दूध को पीने से उसके शरीर में शक्ति आएगी, किन्तु उसके जानने न जानने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसके शरीर में शक्ति आती है और उससे शरीर का विकास होता है।

न किसी प्रकार से आपके व्यवहार में वह वृत्ति है, इसीलिए आप कुछ शान्ति का अनुभव करते हैं, अन्यथा जीवन व्यतीत होना ही कठिन हो जाय। मान लीजिए कि आपका पोता अभी खड़ा होकर कहने लगे कि दादाजी, ये मेरे पिता हैं, ये आपके पुत्र नहीं हैं। तो आप क्या करेंगे ? आप बालक की बात पर मन ही मन मुस्कराएँगे और समझ लेंगे कि बालक अबोध है। वस्तुतः जो इसका पिता है, वह मेरा पुत्र भी है। तो यहाँ नयवाद से ही आप विचार कर रहे होते हैं।

निश्चय ही आज समाज और राष्ट्र में बहुत अशान्ति है। किन्तु जो कुछ भी शान्ति और सामंजस्य दिखाई देता है वह इसी सापेक्ष दृष्टि के होने के कारण ही है। अन्यथा परिवार में, समाज में, राष्ट्र में एकदम अशान्ति का वातावरण बन जाय।

तो मैं आपसे कह रहा था कि यदि हम नय-निक्षेप, प्रमाण के माध्यम से समझने का प्रयत्न करें तो प्रभु अरहनाथ का समग्र रूप हमारे सामने साकार हो सकता है। किन्तु मेरे भाई तो आजकल धर्म को किसी दूसरे ही रूप में समझते हैं। वे समझते हैं कि जितनी देर धर्म स्थान में बैठें और महाराज का प्रवचन सुनें तभी तक धर्म रहता है और फिर बाजार या दूकान में पहुँच जाने पर धर्म छूट जाता है। इसके अलावा कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि धर्म तो परलोक के लिए है, वहीं पर यह काम में आएगा। इसलिए जब अवस्था आएगी, तब धर्म के विषय में विचार कर लिया जायगा। अभी तो, इस जीवन में आराम से रहना चाहिए।

जो व्यक्ति ऐसा विचार रखते हैं वे धर्म के स्वरूप को ठीक तरह से नहीं समझते। नहीं समझने के कारण वे धर्म को अपने जीवन में साकार रूप दे भी नहीं पाते। कहा गया है—

"धर्म धर्म सब कोऊ कहे, धर्म न जाने कोय।"

—इस प्रकार से केवल धर्म के नाम को रटने से कोई काम नहीं चलता। धर्म के स्वरूप को समझना और उस पर आचरण करना चाहिए। ऐसे लोग

के साथ भी भयानक द्रोह कर रहे हैं। धर्म के लिए आप सबके हृदय में एक उल्लास होना चाहिए और वह सदैव बना रहना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ समय के लिए चातुर्मास काल में आप उल्लास प्रदर्शित करें तथा सन्तों के विहार कर जाने पर आप सब कुछ भूल-भाल कर फिर उसी पापमुय जीवन में डूब जायँ।

इसके लिए यह आवश्यक है कि बाल्यकाल से ही आप अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा प्रदान करें जिससे कि आगे चलकर सम्पूर्ण जीवन में वे धर्म के मार्ग से एक इंच भी इधर-उधर न हों। उनके हृदय में धर्म के लिए ऐसा तीव्र अनुराग, ऐसी तीव्र लगन और ऐसी अडिग आस्था होनी चाहिए कि चाहे प्राण भले ही चले जायँ किन्तु धर्म न जाय, धार्मिक आचरण में तनिक भी शिथिलता न आए। आपके घरों में से समाज और राष्ट्र को ऐसे बालक प्राप्त होने चाहिए जिनका जीवन नैतिक तथा प्रामाणिक हो। और जिसे देखकर लोग कहें कि काश! ऐसे युवक हमारे समाज में भी होते।

किन्तु आपके यहाँ तो नैतिकता का अभाव है। समूचे राष्ट्र में एक प्रकार का विप्लव मच रहा है। किसी को भी यह नहीं सूझता कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह स्थिति कितनी भयावह है? यह हालत हमें कहाँ ले जाकर पटकेगी? हमारे जीवन का क्या होगा? धार्मिक शिक्षण तथा नैतिक आचरण के अभाव में समूचा राष्ट्र विनष्ट हो जायगयं इस बात की चिन्ता कोई भी आज करता नहीं हैं। आज प्रत्येक परिवार में अशान्ति उच्छृंखलता अन्याय दिखाई देते हैं। भाई-भाई में लड़ाई होती है, पिता-पुत्र में अनबन होती है, सास-बहू में गाली-गलौच मची रहती है। ऐसा क्यों होता है? इस भयावह स्थिति का मूल कारण क्या है? आप लोग इस पर कभी विचार क्यों नहीं करते हैं?

इसका एक मात्र कारण यही है कि आप में धार्मिकता है ही नहीं। आप स्वयं धार्मिक आचरण नहीं करते हैं और अपने बालकों को भी आपने धर्म की शिक्षा से वंचित कर रखा है। यह दोष आपका है यदि आप स्वयं अपने आचरण को शुद्ध रखें तथा अपने बालकों को समुचित धर्म-शिक्षा प्रदान किए

जीवों की जाति तक को नहीं जानते हैं। जो जीवों की जाति को ही नहीं जानते वे धर्म को भला क्या जानेंगे ?

आप से ही यदि मैं प्रश्न करूँ कि आपकी जाति क्या है, तो आप क्या उत्तर देंगे ? आप कहेंगे—ओसवाल, ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय इत्यादि। यह ठीक नहीं है। आप इस भेद को लेकर मत चलिए। आप अपनी वास्तविक जाति को भूल गए हैं यदि आप अपनी वास्तविक जाति को समझलें तो धर्म के स्वरूप को भी आप समझ सकेंगे।

बन्धुओ ! आपकी वास्तविक जाति है पंचेन्द्रिय जाति। जिस जीव के एक ही इन्द्रिय होती है वह एकेन्द्रिय, जिसके दो इन्द्रियाँ होती हैं, वह बेइन्द्रिय, जिसके तीन इन्द्रियाँ होती हैं वह तेइन्द्रिय, जिसके चार इन्द्रियाँ होती हैं वह चतुरिन्द्रिय और जिसे पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त हो जाती हैं वह पंचेन्द्रिय जीव होता है। यह विकास का क्रम इस प्रकार से चलता है और इससे बढ़कर और कोई जाति का स्वरूप शास्त्रीय दृष्टि से, आत्मा की दृष्टि से नहीं बन सकता है। इसमें आत्मविकास की दृष्टि निहित है। इसी से धर्म का क्रम बनता है।

बन्धुओ ! धर्म सबको सुख देनेवाला है और इतना विशाल है कि वह तत्क्षण सुख और शान्ति दे सकता है। कुछ लोग सोचते हैं कि यह उधार का सौदा है। किन्तु उनका यह सोचना नितान्त भ्रामक है। यह तो एकदम नकद का सौदा है। धर्म का पालन करने से मनुष्य को तत्काल शान्ति प्राप्त होती है। आपको इस दृष्टि से विचार करना चाहिए और अपने प्रत्येक कार्य में धर्म के संस्कार लाने चाहिए। यदि आप ऐसा लक्ष्य बना लेंगे तो प्रभु अरिहन्त के परम धर्म को समझ सकेंगे।

एक व्यक्ति अपना एक लक्ष्य निर्धारित करता है कि वह एम० ए० पास करेगा। तो अब वह अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति किस प्रकार से कर सकता है ? क्या वह दिन-रात एम० ए०, एम० ए० रटने से एम० ए० की डिग्री प्राप्त कर सकता है ? नहीं। उसे एम० ए० तक पहुँचने के लिए प्रथम कक्षा से [illegible]

आरम्भ करना होगा। स्लेट पर लकीरें खींच-खींच कर क ख ग सीखना पड़ेगा। इस प्रकार एक-एक कक्षा उत्तीर्ण करता हुआ ही वह एम० ए० की परीक्षा एक दिन उत्तीर्ण कर सकता है।

इसी प्रकार प्रभु अरहनाथ के परम धर्म की उच्चतम कक्षा में पहुँचने के लिए हमें सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ना होगा। जो व्यक्ति प्रथम कक्षा में ही प्रवेश नहीं करेगा, वह चाहे एक जन्म के बाद दूसरा जन्म और दूसरे के बाद तीसरा—इस प्रकार कितने ही जन्म क्यों न बिता दे ओर चाहे जितना धर्म-धर्म रटता रहे, किन्तु उस परम धर्म के स्वरूप को समझने में और उसे प्राप्त करने में उसे कभी सफलता नहीं मिलेगी।

बहुत से लोग धर्म के नाम की रटन लगाते हैं कि वस्तु स्वभाव धर्म है, अपने धर्म में रहो, किन्तु केवल ऐसा कहने से और रटने से क्या होगा? यदि भूख लगी हो तो रोटी को खाने की क्रिया करनी पड़ेगी। केवल रोटी-रोटी रटते रहने से भूख शान्त नहीं होगी। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप धर्म है, ऐसी माला फेर लेने से कोई लाभ नहीं होगा।

जीवन और आहार का सम्बन्ध घनिष्ट है। कहा गया है—"आहार मिच्छे·······।" आहार की इच्छा करते हो तो मित और ऐषणीय आहार ही ग्रहण करो। आहार की यह परिभाषा लेकर चलने से ही धर्म की परिभाषा बनती है और जीवन को प्रथम कक्षा में प्रविष्ट कराती है। ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए कि आहार का सम्बन्ध केवल शरीर के साथ ही है। शरीर के साथ तो आहार का सम्बन्ध जाना हुआ ही है। किन्तु आगे समझने की बात यह है कि उसका सम्बन्ध जीवन, आत्मा तथा धर्म के साथ भी है।

बहुत से व्यक्ति स्वाद के ही वश में होकर रह जाते हैं और जो जी में आए वह खाते चले जाते हैं। वे समझते हैं कि यह जीवन केवल खाने के लिए ही प्राप्त हुआ है। यह भयानक भूल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भोजन के बिना शरीर नहीं चलता और यदि शरीर को धारण करना है तो आहार लेना भी आवश्यक है। किन्तु आहार ऐसा ही होना चाहिए जो शरीर को पुष्ट करे, मन को शुद्ध करे, आत्मा को पवित्र बनाए। इसके

निरंतर स्वाद के वश में होकर चटपटा या अधिक मीठा खाना खाते रहने से शरीर तो नष्ट होता ही है, साथ ही मन की वृत्तियाँ भी तामसिक और राजसी बन जाती हैं और आत्मा पतित होती है।

श्रावक का जीवन कैसा हो, यह बताते हुए कहा जा चुका है कि—"दोषविवर्जितम्"—दोष से रहित हो, वही जीवन है। ऐसा दोष रहित जीवन बनाने के लिए बचपन से ही आदत ठीक रहनी चाहिए। आरम्भ से ही आदत ठीक रहे तो आगे चलकर अरहनाथ के परम धर्म को समझने की स्थिति बन सकती है। किन्तु आज तो मनुष्य जीभ के स्वाद से पराभूत दिखाई देते हैं। अनेक प्रकार के चरके-चटपटे पदार्थ वे खाते हैं। जबकि यदि कोई मनुष्य बहुत समय तक पकौड़े-भुजिए आदि न खाए तो उसकी कोई हानि होने वाली नहीं है। अधिक मिर्च-मसाले खाने वाले व्यक्ति की वृत्ति तामसिक बन जाती है और वह जीवन में अधैर्यवान् बन जाता है। अधैर्यवान् व्यक्ति के जीवन में धर्म का प्रवेश भी कठिन होता है।

इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि यदि तुम्हें अपना जीवन दोष रहित बनाना है तो अपने आहार के विषय में सतत रूप से सजग रहो। परहेज-पूर्वक सात्त्विक भोजन ही सदा ग्रहण करो, जिससे तुम्हारा शरीर स्वस्थ रहे, मन स्वस्थ रहे और आत्मा पवित्र बनी रहे। जीवन की आवश्यकतानुसार ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। यदि आवश्यकतानुसार कुछ मिर्च खाने के लिए डॉक्टर सलाह दे तो उतनी मात्रा में वह खाई जा सकती है। औषधि के रूप में उसे ग्रहण करने में कोई हानि नहीं है। किन्तु यदि डॉक्टर मना करता हो और फिर भी कोई मनुष्य जीभ के लिए स्वादवश उसे चाहे जितनी मात्रा में खाता रहे तो क्या उसे उचित कहा जायगा ?

रहित स्थिति है। हमें भी धीरे-धीरे उसी स्थिति तक पहुँचना है। अतः धीरे-धीरे हमें अपनी स्थिति ऐसी बनानी चाहिए जिससे कि हम सभी दोषों से एक दिन पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लें।

ऐसा कर सकने के लिए यह जानना आवश्यक है कि दोष किस-किस से उत्पन्न होता है। तो अठारह प्रकार के पाप हैं। इनमें सर्वप्रथम हिंसा का पाप आता है। खाने में भी हिंसा होती है। किन्तु एक तो हिंसा वह है जिससे आत्मा मलीन होकर नरक में चली जाय। और दूसरी हिंसा वह है जो जीवन के लिए नितान्त अनिवार्य हो और पश्चाताप के सहित हो। अतः प्रथम महाव्रत है हिंसा का सम्पूर्ण त्याग करने का। इसके लिए निर्देश दिया गया है कि हिंसा को त्याग दो। किन्तु यदि इसके बिना नहीं रहा जा सकता हो तो गृहस्थ को महारम्भ की स्थिति को तो कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। जीवन का यंत्र यदि नहीं चल सकता हो तो अल्पारम्भ की स्थिति में रहकर चलना चाहिए।

महारम्भ के लिए कहा गया है कि पंचेन्द्रिय जीव का घातक होना महारम्भ की स्थिति है। इससे अवश्यमेव बचना चाहिए। माँस का सेवन अत्यन्त अहितकर है और माँसाहारी व्यक्ति का जीवन कभी भी दोष रहित नहीं बन सकता है। धर्म के मार्ग पर ऐसा व्यक्ति नहीं जा सकता।

यही स्थिति मदिरा तथा अण्डे के विषय में भी है। मदिरा का सेवन भी अत्यन्त अहितकर एवं विनाशकारी है। आजकल पढ़े-लिखे लोग तर्क करने लगे हैं कि अण्डे खाने में क्या दोष है? उसमें तो जीव होता नहीं, माँस होता नहीं, वह तो आजकल बिना गर्भ-धारण किये ही मुर्गी से प्राप्त होते हैं। तो ऐसी बातें सुनकर बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है कि उत्तम कुल में जन्म लेने वाले और उत्तम संस्कारों में पलने वाले लोग भी ऐसे-ऐसे कुतर्क करने लगे हैं।

बन्धुओ! अण्डे में भी माँस है। उसमें भी आत्मा होती है। आत्मा जाकर गर्भ में उत्पन्न होती है, प्रारम्भिक आहार को ग्रहण करती है और फिर अण्डे के रूप में बाहर आती है। मुर्गी उस अण्डे को सेती है, धीरे-धीरे परि-

[illegible] स्थिति हो जाने पर उसमें से पक्षी बाहर आ जाता है। मनुष्यों में भी [illegible] ऐसी ही प्रक्रिया बनती है। माता के उदर में गर्भ आता है, बालक रस [illegible]ण करता है, नौ महीने में परिपक्व स्थिति बनती है और बालक के रूप में [illegible] आत्मा बाहर आती है। अस्तु, अण्डे में भी पंचेन्द्रिय जीव का मांस होता [illegible] और जो पंचेन्द्रिय जीव उसे खाता है वह महापाप का भागी बनता है।

अनेक डॉक्टरों ने भी इस बात को प्रमाणित किया है कि अण्डा खाना [illegible]कर है। थोड़े से समय के लिए कोई ऐसा सोच सकता है कि उसे खाने [illegible] शरीर में शक्ति आ रही है। किन्तु डॉक्टरों का कथन है कि उसे खाने से अनेक प्रकार की अन्य बीमारियाँ हो जाती हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग यह तर्क भी करते हैं कि यदि अण्डे में जीव है [illegible] उसे पोषण करने से कभी-कभी बच्चा क्यों प्रगट नहीं होता? इसका उत्तर [illegible] सीधा है कि कभी-कभी जीवन बनने की पूरी सामग्री न होने के कारण और अमुक तत्व की कमी रह जाने के कारण किसी-किसी अण्डे में से जीव प्रगट नहीं हो पाता। जिस प्रकार मनुष्यों में भी कभी-कभी तीन महीने या पाँच महीने का गर्भ बाहर आ जाए तो फिर माता उसका कितना भी पोषण करे, बालक जीवित नहीं रह पाता, क्योंकि उसमें अमुक तत्व की कमी रह जाती है, वैसी ही स्थिति उन अण्डों के विषय में भी समझनी चाहिए जिनका पोषण किये जाने पर भी जिनमें से जीव प्रकट नहीं होता।

इसी प्रकार यह तर्क भी अमान्य है कि मुर्गे के न रहने पर भी मुर्गी द्वारा [illegible] दिये जाते हैं, अतः उनमें जीवात्मा नहीं होती। वस्तु स्थिति यह है कि [illegible] के गर्भाशय में यदि वे आवश्यक तत्व पहुँचा दिये जाते हैं जिनके संयोग [illegible] जीव [illegible] होता है तो वह गर्भ धारण कर लेती है। शास्त्रों में भी [illegible] कहा है कि पुरुष के न रहने पर भी स्त्री के गर्भाशय में वे तत्व [illegible] से उसके गर्भवती होने का प्रसंग बन जाता है।

[illegible] जो लोग अण्डों का व्यापार करते हैं, वे मशीनों के द्वारा ऐसा [illegible] तैयार करते हैं जिनसे मुर्गी को गर्भ धारण कराने का [illegible] रहता है

और उस दाने को खाकर वह गर्भवती हो जाती है। अतः यह दलील देना कि उस अण्डे में आत्मा नहीं होती निरा प्रलाप ही कहा जा सकता है।

बन्धुओ ! आप यह भली भाँति जान लीजिये कि माँस-मदिरा-अण्डे इत्यादि का सेवन करना आपके जीवन के लिए घोर अनिष्टकारी है। यह महारम्भ का खाना है, इससे सदैव परहेज करके ही चलना चाहिए। माता-पिता का कर्तव्य है कि वे आरम्भ से ही अपने बच्चों पर पूरा नियंत्रण रखें और सावधानी से देखते रहें कि वे कहाँ जाते हैं, क्या खाते-पीते हैं। यदि प्रारम्भ से ही ऐसी सावधानी बरती जाय तो इस आर्य-भूमि की सन्तानें विनाश के मार्ग पर जाने से बच सकती हैं।

भोपाल की एक घटना है। वहाँ के निवासी निहालचन्द्र जी का पुत्र भीमसिंह वकालत में पढ़ रहा था। माता-पिता ने उसे आरम्भ से ही ऐसे संस्कार देकर पाला था कि वह माँस-मदिरा-अण्डे आदि से घृणा करता था। उसमें ये उत्तम और हितकारी संस्कार बचपन से ही डाल दिये गये थे।

एक बार उसके साथियों ने कोई पार्टी की। सब लोग अपने-अपने घर से अपना-अपना टिफिन लेकर पहुँचे। जब टिफिन खोले गये तो उनमें से बहुत से साथी अण्डे भी लाये थे। यह देखकर भीमसिंह को बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने साथियों से कहा—"मैं तुम लोगों के साथ बैठकर भोजन नहीं करूँगा। माँस-मदिरा-अण्डे खाना पाप है और शरीर के लिए भी हितकारी नहीं है। मुझे इन वस्तुओं से बड़ी घृणा है।"

किन्तु उसके साथी जिद करने लगे और कहने लगे—"अरे ! अण्डे में तो जीव होता ही नहीं। इसे खाने में क्या हानि है ? तुम्हें हमारे साथ बैठकर आज अण्डे खाने ही पड़ेंगे।"

भीमसिंह नहीं माना तो साथी जबरदस्ती करने लगे। यह जबरदस्ती देखकर उसने आवाज लगाई और उसकी आवाज सुनकर उसके शिक्षक वहाँ आ गये। उन्होंने पूछा कि क्या बात है तो उन्हें सारी स्थिति बताई गई।

सुनकर वे शिक्षक कहने लगे—"अरे भीमसिंह ! इसमें तो कोई हर्ज नहीं है। अंडे तो निर्जीव हैं, शाकाहारी हैं। तुम इन्हें खा सकते हो।"

बन्धुओ ! जिस देश में शिक्षक भी इस मार्ग पर चल पड़े, उस देश का कल्याण किस प्रकार से सम्भव है ? ऐसे लोगों के मस्तिष्क में से अब तक पाश्चात्य संस्कार नहीं निकले हैं और गुलामी की जंजीर—मानसिक गुलामी की शृंखला अब तक उनके गले में पड़ी हुई है। यह दशा अत्यन्त शोचनीय है। ऐसे विचार रखने वाले लोगों के संसर्ग से भी दूर रहना चाहिए। भीमसिंह ने भी यही किया और वह दीवार फांदकर वहाँ से भाग गया।

अतः संरक्षकों का पुनीत कर्तव्य बन जाता है कि वे अपने बालकों के संस्कारों के प्रति पूर्ण सावधानी बरतें और उन्हें ऐसे लोगों की संगति से बचाएँ जो कि अपने जीवन को स्वयं भी नहीं समझते और अपने साथ ही दूसरों के जीवन के साथ भी खिलवाड़ करने के लिए उद्यत रहते हैं। एक पिता का सम्बन्ध अपने पुत्र के साथ केवल शरीर का ही नहीं होता, धर्म का सम्बन्ध भी होता है, आत्मा का सम्बन्ध भी होता है। उस सम्बन्ध को पूर्ण तरह से निभाना चाहिए।

महाराज भीम नरेश इस सम्बन्ध को भली प्रकार से जानते थे। वे प्रयत्न करते थे कि उनका पुत्र श्रेष्ठ संस्कारी बना रहे और कुसंगति में पड़कर उसकी जो हानि हुई थी वह दूर हो जाय। उनका मस्तिष्क पुनः शुद्ध बने और उसकी आत्मा पतित होने से बच सके।

अतः वे अपने पुत्र से कह रहे थे—

दोनों श्वेत दिखाई दे रहे हैं। बच्चे ने अज्ञानवश दोनों को समान समझ एक हाथ में अफीम और दूसरे हाथ में मिश्री की डली उठा ली है। वह मिश्री पहले खाने लगता है।

अब उसके समीप जो संरक्षक बैठा है वह क्या करेगा ? क्या वह उस बालक को दोनों वस्तुएँ खाने देगा ? नहीं। वह बालक से कहेगा—"तुमने मिश्री की डली ली, यह तो ठीक। किन्तु दूसरे हाथ में जो अफीम की डली है, उसे छोड़ दो। वह तुम्हारे लिए हितावह नहीं है। इसे छोड़ दो और मिश्री को ग्रहण करो।'

तो जो संरक्षक या विचारक ऐसी बात कह रहा है, क्या वह अफीम की निन्दा कर रहा है और मिश्री की प्रशंसा ? अथवा वह दोनों के स्वरूप को बता रहा है ? उसे अफीम से कोई द्वेष नहीं है। किन्तु वह कह रहा है कि अफीम आम जनता के लिए हितकारी नहीं है। वह घातक है। प्राणनाशक है। अतः उसे त्याग देना चाहिए। मिश्री में मिठास है। और वह कठोर भी है। यदि एक बड़ी-सी डली मिश्री की उठाकर किसी के मार दी जाय तो उससे चोट भी लग सकती है। किन्तु हमें तो उसकी मिठास से प्रयोजन रखना चाहिए और उसकी कठोरता की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

उसी प्रकार भीमनरेश रुक्मकुंवर को समझाते हुए कहते हैं कि कृष्ण वासुदेव को अनीति का प्रतीकार करने के लिए कभी-कभी युद्ध के प्रसंग में पड़ना पड़ता है, तो इससे उनकी कठोरता की निन्दा नहीं करनी चाहिए। वे किसी को मारने के लिए प्रवृत्त नहीं होते। वे तो अन्याय का प्रतीकार करने के लिए कर्त्तव्य के क्षेत्र में उतरते हैं। दुष्टों, अन्यायियों, अपराधियों को दण्ड देने के लिए उन्हें साम, दाम आदि का प्रयोग यदि करना पड़ता है तो उसे उसी दृष्टि से समझना चाहिए। उनके दोनों गुणों की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। उनके जीवन की मधुरता और जीवन की कला, इन दोनों का विचार रखना चाहिए।

"केवल निन्दा और तिरस्कार की भावना नहीं रखना चाहिए।" इतना कहकर भीमनरेश ने आगे कहा कि इस समय प्रसंग है कि विवाह करना

अपना नहीं करता। यदि तुम्हें यह पसन्द नहीं है तो यह दूसरी बात है किन्तु उनके जीवन के साथ असत्य बातें जोड़कर पाप के भागी मत बनो। किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति की प्रशंसा तो की जा सकती है, किन्तु व्यर्थ ही निन्दा करना उचित नहीं है। तुम अपने जीवन को सम्हालो और उनका अनुसरण करो। कुणप का आचार प्रशंसनीय है। उनके विचार उत्तम हैं। और उनके साथ बेटी का विवाह हुआ तो तुम्हारे लिए भी वह हितावह होगा। तुम्हारे जीवन में भी चार चांद लग जाएँगे। तुम उनके ... के पद को प्राप्त करोगे और सुखी बनोगे।

सोमनंदा ने ये सब भली बातें बड़े प्रेम से रूपकुंवर को समझाईं। किन्तु जिस व्यक्ति को कोई भ्रम हो जाता है वह सरलता से ठीक मार्ग पर नहीं आ पाता। वह तो उल्टा ही उल्टा विचार करता है। रूपकुंवर ने भी कुल परम्परा से गलत संस्कार लिये थे, अतः वह अपने पिता की हितावह बातों को समझ नहीं सका। वह तो उत्तेजना सहित कहने लगा —

"यह आपका भ्रम है। आप नहीं जानते कि मिथ्यात्वियों में उनका आदर होता है। मैं ऐसे वर के साथ कदापि अपनी बेटी का विवाह नहीं होने दूँगा।"

बन्धुओ! सत्य तो स्वयं प्रकाशित होता है। वह तो अपनी स्थिति को ... प्रकट कर देता है। उसे बार-बार दुहराने की आवश्यकता नहीं होती और उसमें किसी प्रकार की उत्तेजना की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु रूपकुंवर में तो सहनशीलता भी नहीं थी। अतः वह बार-बार उत्तेजित होकर कहता था।

सकता है कि वह कृष्ण को पसन्द करती है कि नहीं। लेकिन केवल युवराज ही अनावश्यक रूप से उत्तेजित हो रहे हैं, जो कि उचित नहीं है।"

बन्धुओ ! कहते हैं कि "रीतो घड़ो, बाजे घणो"—खाली घड़े से अधिक आवाज आती है। यही स्थिति उस समय युवराज की थी।

भीम नरेश ने पुनः कहा—"अमात्यवर ! आप ठीक कहते हैं। युवराज को उत्तेजित नहीं होना चाहिए। मैं भी उत्तेज़ित नहीं होना चाहता। हमें उसकी बात भी सुननी चाहिए और पूछना चाहिए कि वह कौन से वर को अपनी बहिन के लिए योग्य समझता है। मैंने तो अपने विचार सारी सभा और सारे परिवार के समक्ष रख दिए हैं। अपना कर्तव्य समझकर मैंने ऐसा किया है। अब यदि रुक्मकंवर यह बता दे कि वह किस वर को बाई के लिए योग्य समझता है, तथा उसकी बात यदि आप सब लोगों को उचित लगे तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं तो यही समझूँगा कि मेरा बोझा इसने हलका कर दिया। यदि यह अपने उत्तरदायित्व को समझता है और उसका निर्वाह योग्यता पूर्वक करता है तो यह बड़ी प्रसन्नता की बात होगी। आप इससे पूछ देखिए।"

बन्धुओ ! भीम नरेश में अथाह धैर्य था। रुक्मकंवर में न धैर्य था, न विवेक। ऐसे व्यक्ति अपने जीवन में सफल नहीं हो सकते। आपको अपने जीवन में धैर्य लाना चाहिए। वह धैर्य आप तभी प्राप्त कर सकते हैं जबकि आप भगवान अरहनाथ की शान्ति के स्वरूप को समझें और उसे ग्रहण करें। अपने आहार-विहार में भी, चाहे वह धर्मस्थान पर हो अथवा हाट-बाजार में, आपको धर्म और धैर्य का आश्रय लेकर चलना चाहिए। इत्यलम्।



जाने का प्रवन्ध करें तो कोई कारण नहीं कि समाज की ऐसी दुर्दशा हो। धार्मिक संस्कार आने पर ये सव झगड़े समाप्त हो जायेंगे। क्रोध और ईर्ष्या का स्थान प्रेम तथा सहानुभूति ले लेंगे, लड़ाई-झगड़े के स्थान पर सहयोग तथा सौहार्द का वातावरण दिखाई देगा और आप सुखी वनेंगे, समाज फलेगा-फूलेगा, राष्ट्र उन्नत वनेगा।

द्वारिका नगरी तथा स्वर्गपुरी में, अथवा द्वारिका नगरी तथा आपकी नगरी में यही मूलभूत अन्तर है। समस्या के इसी मूलविन्दु पर विचार कीजिए और आपके सामने आज जो अन्धकारमय भविष्य दिखाई दे रहा है उससे वचने का प्रयत्न कीजिए। द्वारिका की सवसे वड़ी विशेषता यही थी कि वहाँ ज्ञानी पुरुष थे। ज्ञानी पुरुषों से मेरा तात्पर्य केवल अक्षरज्ञानियों से नहीं है। मेरा अभिप्राय है कि द्वारिका के निवासी वस्तुतः आध्यात्मिक ज्ञान के धनी थे। वे ज्ञानी थे, इसलिए ध्यानी भी थे। ज्ञान और ध्यान की पावन सुरसरिता वहाँ प्रवाहित रहती थी। सच्चे ज्ञानी होने के कारण वे नैतिक आचरण के पथ पर मौन व्रत के साथ निरन्तर अग्रगामी वने रहते थे। आज के हमारे राष्ट्र के ढोंगी नागरिकों की भाँति वे नैतिक आचरण के अभाव में अपनी कमजोरियों और खोखलेपन को छिपाने के लिए वढ़-वढ़कर वातें नहीं वनाया करते थे, अपनी झूठी शक्ति का ढोल नहीं पीटा करते थे। वे तो धर्मनिष्ठ थे, नैतिक थे, ज्ञानी थे, ध्यानी थे, मौनव्रती थे।

आप जरा सोचिए और वताइये कि आप लोगों में से ऐसे कितने महानुभाव हैं जो कि मौन की साधना करते हों? शायद एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा। तो मेरा आपसे यह आग्रह है कि इस वात को भली प्रकार से समझने का प्रयत्न कीजिए। आवश्यकता के अनुसार ही कम से कम वोलना मनुष्य का गुण है। आवश्यकता से अधिक वोलने से अनेक प्रकार के झगड़े खड़े हो जाते हैं। आप जानते हैं—कि श्रावक के जो इक्कीस गुण वताए गए हैं उनमें सवसे पहले वोल में ही कहा गया है कि—"पहिले वोले श्रावक जी कम वोले और काम पड़्या से वोले।"

इस बात को आप जानते हैं। आपने इसे पढ़ा भी होगा और हम साधु-सन्तों से अनेक बार सुना भी होगा। किन्तु जानकर और सुनकर फिर आगे क्या हुआ? क्या आपने इसे अपने आचरण में भी उतारा? यदि आपने केवल एक कान से सुनकर दूसरे कान से बाहर निकाल दिया तो हमारा कहना भी व्यर्थ गया और आपका सुनना भी व्यर्थ गया। इसलिए कहता हूँ कि जो कुछ सुनें उस पर आचरण भी करें। अधिक और अनावश्यक बोलना अत्यन्त हानिकर है। प्रायः देखा जाता है कि बोलते-बोलते बात का बतंगड़ बन जाता है। लड़ाई-झगड़े हो जाते हैं। यहाँ तक कि मारपीट और खून-खराबी भी हो जाती है। यह कितने दुःख और चिन्ता की बात है।

बन्धुओ! एक प्रसंग आपके सामने उपस्थित करता हूँ, आप उस पर मनन करें—

किसी समय एक छोटे-से कस्बे में एक निर्धन व्यक्ति रहता था। पूर्व-जन्म के कर्मों का उदय कुछ ऐसा था कि वह बेचारा परिश्रम करता था, किन्तु उसकी स्थिति वैसी की वैसी ही बनी रहती थी। उसका पुरुषार्थ भी एक प्रकार से व्यर्थ हो जाता था। कार्य करने पर भी उसे कुछ मिल नहीं पाता था।

एक दिन संक्रान्ति का दान देने का दिन आया। उस व्यक्ति ने सोचा—'इस दिन लोग दान दिया करते हैं। मैं भी चलूं और दान प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ। यह विचार उसके मस्तिष्क में आया ही था कि इससे जुड़ा हुआ एक प्रश्न भी उसके मन में उदित हुआ। वह प्रश्न था कि लोग जो दान देते हैं, वह तो ब्राह्मणों को देते हैं। मैं तो जाति का ब्राह्मण नहीं हूँ, फिर मैं क्या करूँ? मुझे दान कैसे प्राप्त हो सकता है?

सोचते-सोचते उसे विचार आया, उपाय सूझा कि मैं असली ब्राह्मण नहीं हूँ, किन्तु कृत्रिम ब्राह्मण तो बन ही सकता हूँ। यह सोचकर उसने गले में सूत का धागा डाल लिया, कान में जनेऊ लगाली और छापा-तिलक-चढ़ाकर ब्राह्मण रूप में हो गया। इस प्रकार वेश-परिवर्तन करके वह अन्य ब्राह्मणों के साथ मिल गया और बस्ती में दान लेने चला गया। उस दिन उसे दान के रूप में कुछ सामग्री मिल भी गई। वह बहुत प्रसन्न हुआ।

घर आकर मध्याह्न के समय वह अपनी टूटी खाट पर लेट गया और ह सामग्री उसने खाट के नीचे रख ली। प्रातःकाल बस्ती में इधर से उधर [घू]मते हुए वह काफी थक गया था। अतः उसे धीरे-धीरे झपकी-सी लग गई [औ]र उसी अर्धनिद्रा की-सी अवस्था में उसकी कल्पना में पंख लगे। अपनी [उ]स निद्रा में उसने कल्पना की—'बस ! बस ! अब तो आनन्द आ गया। [अ]ब तो मैं फिर से धनवान बन जाऊँगा। आज जो सामग्री मुझे प्राप्त हुई [है], इसे मैं कल बेचूंगा। इससे मुझे लाभ होगा। जो धन मुझे मिलेगा उससे [मैं] घास के पूले खरीदूंगा और गाड़ी में भरकर नगर में बेचने जाऊँगा। इससे [मु]झसे और भी अधिक धन मिलेगा। और अधिक घास रह गई तो फिर एक [भू]री भैंस खरीदूंगा। उस भैंस के दूध को मैं जमा दूंगा। फिर बिलौवना [क]रूँगा। मक्खन निकलेगा। मक्खन को मैं फिर बाजार में बेच दूंगा। खूब [ध]न मिलेगा। और मैं बची हुई छाछ को भी बेचूंगा। इस प्रकार मैं थोड़े ही दिनों में खूब धनवान बन जाऊँगा।'

इस प्रकार वह भोला, निर्धन, कर्मों का फल भोगता हुआ व्यक्ति कल्पना का आनन्द लिए चला जा रहा था और तन्द्रा में इन्हीं बातों का उच्चारण भी करता चला जा रहा था। उसकी पत्नी भी पास में ही सोई पड़ी थी। उसने जब अपने पति का बड़बड़ाना सुना तो वह सोचने लगी कि ये किससे बातें कर रहे हैं ? ध्यान से देखा - सुना तो पता चला कि अपने-आप ही वे बोल रहे हैं, और तन्द्रा में हैं। उसने यह देखकर मौन धारण कर लिया। किन्तु फिर भी उससे रहा नहीं गया और वह भी अपने आप बोलने लगी—'आप सब कुछ करोगे तो ठीक है। किन्तु छाछ में से आधी छाछ तो मैं अपने पीहर भेजूंगी। मेरा भी आधा हक है।'

इन शब्दों का उच्चारण होने पर पति की तन्द्रा टूट गई। वह बोला—"क्यों री ! तूने क्या कहा ?"

पत्नी ने उत्तर दिया—"आप सब कुछ करोगे, तो करना। मैं आपको नहीं रोकती। किन्तु आधी छाछ तो मैं अपने पीहर अवश्य भेजूंगी।"

पति को क्रोध आया। वह गरजा—"कैसे भेजेगी ? मैं देखता हूँ कि तू आधी छाछ अपने पीहर—कैसे भेजेगी ?"

पत्नी भी पीछे हटने वाली नहीं थी। आखिर—वह उसकी अर्धांगिनी थी। आधा हक वह अपना भी समझती थी। सो वह भी उत्तेजित होकर बोली—"मैं इतनी मेहनत करूँगी। दही जमाऊँगी, बिलौवना करूँगी, सब कुछ करूँगी और इतना करने पर भी क्या मैं आधी छाछ अपने पीहर नहीं भेज सकती ? अरे छाछ तो क्या, मैं चाहूँ तो आधा मक्खन भी अपने पीहर भेज सकती हूँ। समझे ? तुमने आखिर मुझे समझ क्या रखा है ?"

पत्नी का यह उत्तर सुनकर वह व्यक्ति आग-बबूला हो गया। बड़बड़ाते हुए उसने एक डंडा उठाकर पत्नी की पीठ पर जमा दिया। डंडा पड़ा और औरत चिल्लाई। आवाज सुनकर अड़ौसी-पड़ौसी वहाँ इकट्ठा हो गए कि मामला क्या है ? यहाँ यह लड़ाई किस कारण हो रही है ? लोगों को देखकर वे पति-पत्नी जोर-जोर से एक दूसरे के दोष बताने लगे। आखिर लोगों ने पूछा—"भाई ! पहिले यह बता कि तूने इसे पीटा क्यों ?"

उसने उत्तर दिया—"यह कहती है मैं आधी छाछ पीहर भेजूंगी। मैंने कहा कि तू आधी छाछ पीहर नहीं भेज सकती। तो यह कहती है कि मैं तो अवश्य भेजूंगी। यह सुनकर मुझे क्रोध आ गया और मैंने उसे पीट दिया।"

यह सब माजरा देख-सुनकर एक चतुर व्यक्ति ने एक मुक्का कसकर उस व्यक्ति की पीठपर जमा दिया। तब उसने पूछा—"तुमने मुझे क्यों मारा ?"

उस चतुर व्यक्ति ने उत्तर दिया—"देख, तेरी भूरी भैंस ने मेरा खेत उजाड़ दिया। अब मैं तुझे मारूँ नहीं तो क्या तेरी पूजा करूँ ?"

यह सुनकर वह व्यक्ति बोला—"लेकिन भाई, भैंस है कहाँ ?'

चतुर व्यक्ति ने तब उसे समझाया—"अरे भले मानस ! जब भैंस है ही नहीं, तब तू छाछ के लिए अपनी पत्नी से लड़ाई क्यों कर रहा है ?"

अपनी भूल उस व्यक्ति को तुरन्त समझ में आ गई।

प्राप्तिस्थान :
श्री जैन जवाहर मित्र मण्डल
आनन्द-भवन, मेवाड़ी गेट, ब्यावर (राज०)
मेवाड़ी बाजार, ब्यावर

प्रथम संस्करण : सम्वत् २०३१ (ई० स० जून १९७४)

मुल्य : ३·२५ रु० (तीन रुपये पच्चीस पैसे सिर्फ)

मुद्रक : श्रीचन्द सुराना के लिए
राष्ट्रीय आर्ट प्रिन्टर्स,
मोतीलाल नेहरू रोड, आगरा-३

तो बन्धुओ ! यह प्रसंग मैंने आपके समक्ष प्रस्तुत किया। अब मैं सोचता हूँ कि कहीं आज-कल अधिकांश बड़े-बड़े परिवारों में जन्म लेने वाले मेरे भाई ऐसा ही काम तो नहीं कर रहे हैं ? आप स्वयं अपनी ही स्थिति से विचार कीजिए। यदि यह दोष कहीं आप में दिखाई देता हो तो उसे दूर कर दीजिए। मौन रहकर हम अच्छी साधना कर सकते हैं। अधिक, अनावश्यक और व्यर्थ की बातें बोलने से क्लेश और कलह बढ़ता है। किन्तु यदि आप मौनी—ध्यानी बनकर चलेंगे तो आप ईश्वरीय शक्ति की ओर बढ़ सकते हैं। यह तत्व मैंने आपको कर्त्तव्य के दृष्टिकोण तथा शास्त्रीय दृष्टिकोण से कहा है। इस दृष्टि को लेकर आप चलेंगे तो आपका जीवन मंगलमय बनेगा। यह जीवन के लिए स्थिति का कथन है। किन्तु कृष्ण महाराज का जीवन कैसा था ? और वह रुक्मिणी महासती कैसी थी ? प्रसंगानुसार आगे कभी इसकी चर्चा करुँगा। अभी तो मैं आपकी बुद्धिरूपी रुक्मिणी को सम्बोधित कर रहा हूँ कि वहाँ आप यदि ठीक बुद्धि बनाएंगे तो आपका जीवन इस लोक तथा परलोक में सुखी बनेगा। इत्यलम्

दिनांक
१०-७-७१

 

२ | किम् जीवनम्, जीवन क्या है?

"असंखयं जीविय मा पमायए...... ....।"

शान्ति जिन एक मुझ वीनती.........।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण आपके सामने किया जा रहा है। आज एक गाथा का उच्चारण अधिक हुआ है तथा एक गाथा छोड़ भी दी गई है। जिन गाथाओं के विषय में पूर्व में चर्चा हो चुकी है, उन्हें छोड़कर अगली गाथाओं के रूप का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है।

बन्धुओ! भगवान के चरणों में अथवा उनकी सेवा में अपना आत्म निवेदन करना तथा उनकी आदर्श, मंगलकारी छाया में अपनी आत्मा का अवलोकन करना यह मानव-जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है। मनुष्य यदि ईश्वर के स्वरूप को पूर्णरूपेण समझने का प्रयास करे तो मानव-जीवन की वह चरमसीमा प्राप्त की जा सकती है जहाँ सभी भव्य प्राणियों को पहुँचना है।

प्रभु अनन्त शक्तिवान् हैं। वे ऐसे विमल ज्ञान के स्वामी हैं, जिसका कहीं कोई अन्त ही नहीं है। जिसका पार कोई पा नहीं सकता है। उनके सुख का कोई अन्त नहीं है, तथा वे परम शान्ति के निधान है। ऐसे श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्रभु का आप स्मरण करें, उनके नाम का स्मरण करें।

नाम प्रभु के अनेक हैं। आप जब प्रभु का स्मरण करें तब वास्तव में उस नाम के माध्यम से प्रभु के गुणों का ही स्मरण करें, अन्यथा केवल नाम का स्मरण या उच्चारण विशेष महत्व नहीं रखेगा। नाम की दृष्टि से आपको उस अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। नाम की सीमा केवल नाम तक ही नहीं

रह जानी चाहिए क्योंकि नाम तो शब्द रचना के रूप में है। शब्द भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न हैं। भाषाएँ भी अनेक हैं। हिन्दी भाषा का ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति हिन्दी शब्दों के माध्यम से प्रभु का स्मरण करता है। अंग्रेजी का ज्ञान रखनेवाला मनुष्य अंग्रेजी के माध्यम से प्रभु की प्रर्थना करता है। इसी प्रकार उर्दू-फारसी, फ्रैंच, जर्मन इत्यादि अलग-अलग भाषाएँ हैं, और इन भाषाओं को जानने वाले लोग अपनी-अपनी भाषा में प्रभु के नाम का स्मरण करते हैं। तो भाषा से कोई अन्तर नहीं पड़ता। शब्द से कोई प्रभाव भिन्न नहीं हो जाता। भिन्न-भिन्न भाषाओं के कारण प्रभु का स्वरूप नहीं बदल जाता, यह ध्यान देने की बात है। प्रभु का स्वरूप तो एक ही है और वह सर्वकाल, सर्वदेश के लिए है। अतः किसी भी शब्द के माध्यम से हमें प्रभु के पूर्ण शुद्ध एवं पवित्र रूप को ही देखना चाहिए, इन शब्दों में प्रभु के उसी स्वरूप का द्योतन होना चाहिए, तभी भाषा की अनेकरूपता होते हुए भी भावों ही एकरूपता रहेगी।

यदि ऐसी एकरूपता आ सके और भिन्न-भिन्न शब्दों के रहते हुए भी हम उस एक ही अर्थ पर अपनी जागृत दृष्टि रख सकें तो मानव-जीवन में बहुत बड़ी शक्ति संचित हो सकती है।

इसके विपरीत यदि मानव ने विभिन्न भाषाओं के आधार पर भगवान को भी अलग-अलग बनाने का प्रयास किया तो परिणाम क्या होगा ? वह परिणाम मानव के लिए बड़ा भयानक होगा। प्रभु का स्वरूप तो बदलेगा नहीं, किन्तु मानव-जीवन खंडित हो जायेगा, मानव-जीवन के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।

बन्धुओ ! जीवन में आत्म स्वरूप तो एक ही है। उसे जानने-पहचानने तथा व्यक्त करने के लिए साधन उपलब्ध तीन रूपों में है—मन, वचन तथा काया। मनुष्य अपनी आत्मा को अथवा अपने वास्तविक स्वरूप को तीन दृष्टियों से व्यक्त करता है। इन तीन स्थानों से भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति होने पर भी अपने आत्मस्वरूप को वह अखण्डित रूप में ही देखता है। मनुष्य जब किन्हीं भी वचनों का उच्चारण करता है, मन की कल्पना को उड़ान में

ले जाता है और संसार की प्रवृत्ति शरीर पर रखता है, तो उस समय क्या वह अपने भीतर अपने चैतन्य के स्वरूप को, एकत्व को भुलाता है ? नहीं, मनुष्य इस स्थिति में भी अखण्डित रहता है। उसी प्रकार इस विश्व में परमात्मा का स्वरूप भी शुद्ध रूप में रहा हुआ है। इसी शुद्धस्वरूप को वह अपना साध्य बना सकता है। एक समय के नाम से उसे पुकारा जा सकता है।

तो उस परम्परा को आप इसीरूप में समझें। शब्दों की भिन्नता का प्रवाह आप उस समुद्र में ले जाकर छोड़ दें। आप जानते हैं कि विभिन्न नदियों-नालों से पानी बहता हुआ आता है, किन्तु वह सारा जल उस विराट् अगाध समुद्र में एक रूप हो जाता है। उसमे मिल जाने पर कोई नदी पृथक नदी नहीं रहती, किसी नदी का जल अपना अलग अस्तित्व नहीं रखता। इसीप्रकार परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है। विभिन्न आत्माएँ यदि अपने स्वरूप को सिद्ध परमात्मा के स्वरूप में व्यक्त कर लेती हैं तो वहाँ एकत्व की भावना हो जाती है, दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न नहीं रहतीं, शुद्ध संग्रहनय की एकत्व दृष्टि एकत्व भावना वहाँ आकार ले लेती है। भीतर का एक चिन्तन एक ही रूप में वहाँ जागृत हो जाता है। मानव-जीवन अपने समग्र जीवन का अंकन करके अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के लिए तत्पर हो जाता है।

अस्तु बन्धुओ ! आज मैंने शान्तिनाथ भगवान के चरणों में इस प्रार्थना की कड़ियों के माध्यम से जो अपने भाव व्यक्त किए हैं, यद्यपि भाव इन कड़ियों में कवि आनन्दघनजी के हैं, किन्तु व्याख्या के रूप में इनमें अपने भाव मैंने भी जोड़े है तथा प्रभु का स्वरूप आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हमारे शब्दों की यह भावना ऐसी आनन्ददायक बने कि जिससे हमारा वर्तमान जीवन भी स्वर्गीय सुख का आभास देने वाला बने तथा हमारा भविष्य भी उज्ज्वल बने।

आज के प्रबुद्ध वर्ग को, विचारक-वर्ग को विद्यार्थी वर्ग को इस विषय में गहराई से चिन्तन करने की आवश्यकता है। यह विचार किया जाना चाहिए कि हमारा वर्तमान जीवन कहाँ हैं ? हम आज किस रूप में हैं, किधर चल

रहे हैं ? क्या ये दिखाई पड़ने वाले दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका छिद्र और एक जिह्वा रूप पिण्ड ही हमारा जीवन है ? अथवा जीवन उससे भी कुछ परे है ? यदि मनुष्य की दृष्टि इस भौतिक पिण्ड तक ही सीमित रह गई और इसी को मनुष्य ने अपना सर्वस्व समझ लिया तो उसका वर्तमान जीवन भव्य आनन्द नहीं पा सकेगा।

मनुष्य को विचार करना चाहिए कि ऐसा पिण्ड जो कि दिखाई दे रहा है, वह तो कभी-कभी पशु कहलाने वालों में भी दृष्टिगत होता है। ठीक वैसा ही पिण्ड, मनुष्य का वैसा ही रूप पशु भी लेकर चलते हैं। पशु की आकृति भी मनुष्य के समान दिखाई देती है। प्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री डारविन के अनुसार मनुष्य का विकास गुरिल्ले वन्दरों से ही हुआ है। यद्यपि डारविन के इस सिद्धान्त को वाद में अनेक वैज्ञानिकों ने स्वीकार नहीं किया है, फिर भी हम मनुष्य का अंकन इस दृष्टि से करें और अपने वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करें। मनुष्य की आकृति धारण करनेवाला वन्दर भी अपनी समग्र चेष्टाओं से मनुष्य के समान प्रतीत होता है। और यदि मनुष्य भी केवल उसी प्रकार की चेष्टाओं में अपना सारा जीवन व्यतीत करदे तव उसमें और वन्दर में, जोकि एक पशु है, क्या भेद रह जायगा ?

खाना-पीना, अर्थसंग्रह, वाल-वच्चों की परवरिश करना इत्यादि प्रवृत्तियाँ तो वानर भी कर लेता है। तव यदि मनुष्य भी इतना ही करता रहे तो वह स्वयं को मानव कहने का अधिकारी कैसे होगा ? यदि उसका धरातल, उसके जीवन की चेष्टाएँ पशु के समान ही हैं तो वह एक पशु से श्रेष्ठ नहीं हो सकता तथा मानव-जीवन के जो दिव्यस्वप्न हम देखते हैं, वे कभी चरितार्थ नहीं हो सकते। हाँ, वन्दर का कभी इतना विकास नहीं हुआ कि वह मनुष्य के समान अर्थ-संग्रह कर सके अथवा अपनी संग्रहवृत्ति को वढ़ा सके। मनुष्य का विकास हुआ, किन्तु उस विकास से जो वास्तविक हित वह अपना कर सकता था, वह न करके मनुष्य केवल इस पिण्ड की पूजा में ही लग गया। मनुष्य की यह संग्रहवृत्ति किसी भी प्रकार मानव-जीवन को समझने, उसका उत्थान करने के लिए उपयोगी नहीं हो रही है। उल्टे

यह वृत्ति उसे स्वार्थ तथा भौतिकता में लिप्त कर रही है। इस दिशा में चलने पर मनुष्य का कल्याण किस प्रकार हो सकता है यह विचार करने का विन्दु है।

दार्शनिक क्षेत्र में अनेक विद्वान दार्शनिक दृष्टि से जीवन की परिभाषा करने के लिए तत्पर होते हैं। उनके मन मस्तिष्क में प्रश्न उठता है कि—"**किम् जीवनम् ?**" अर्थात्, जीवन क्या है ? जिस प्रकार इन विद्वानों के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठता है, उसी प्रकार यही प्रश्न क्या आज के युवक वर्ग के मस्तिष्क में भी उठता है ? क्या आज का छात्र-वर्ग कभी विचार करता है कि "किम् जीवनम् ?" आखिर जीवन क्या है ? क्या इस पिण्ड को ही जीवन समझ लिया जाय तो सभी प्रकार यदि ऐसा ही मान लिया गया तव तो सभी प्रकार के प्राणी जो इस पिण्ड में रह रहे हैं—तव मनुष्य एवं उन क्षुद्र प्राणियों में क्या अन्तर हुआ ?

किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यह पिण्ड-जीवन नहीं है। हमारे छात्र वर्ग को यदि यह वात भली प्रकार समझाई जायगी तो वे इसे समझ सकेंगे और उनके जीवन का कल्याण होगा। जीवन का वह विराट् स्वरूप अवश्य ही उनकी समझ में आ सकेगा और हमारा कर्तव्य है कि हम स्वयं भी इस वात को ठीक प्रकार से समझें तथा वालकों का, छात्रों को, युवकों को, मार्ग से भटक रहे अज्ञानी भाइयों को भी यह वात समझाएँ।

अस्तु, "**किम् जीवनम्**" के प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि—"**दोष-विवर्जितम् जीवनम्।**" अर्थात्, दोषों से रहित जो है, वह जीवन है। जब तक दोषों की स्थिति मानव-जीवन में है, तब तक वह जीवन वस्तुतः जीवन नहीं है। दोषों से पूर्ण जीवन तो एक प्रकार की मशीन ही कही जा सकती है। एक मशीन नोट छापती चली जाती है या सिक्के ढालती चली जाती है। उसी प्रकार से यदि एक मनुष्य केवल धन का संग्रह करते चले जाने में ही अपने जीवन की इतिश्री मान लेता है तो उसका जीवन दोष सहित है, इसलिए वह वास्तविक जीवन है ही नहीं। "**दोषोविवर्जितम् जीवनम्**" की परिभाषा तक उस मनुष्य का जीवन नहीं पहुँच सकता।

दोष रहित जीवन का जहाँ प्रश्न आता है, वहाँ मानव की मानव के साथ आत्मीयता का भाव उठता है, एक-दूसरे में विश्वास उत्पन्न होता है, प्रेम एवं सहानुभूति का स्वर्गीय वातावरण बनता है। यह स्थिति बनने पर मनुष्य अपने भीतर एवं बाहर के जीवन को समझता है तथा विचार करता है कि बाहर का जीवन ही सब कुछ नहीं है। बाहर का जीवन जब तक उसके भीतर के जीवन से सम्बद्ध नहीं होता तब तक किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति असम्भव है। मानव-जीवन में एक नई चेतना, एक नवीन स्फुरणा लाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि मनुष्य अपने भीतर एवं बाहर के जीवन को सही प्रकार से समझे और वैसा आचरण करना आरम्भ करे।

आज मानव की स्थिति इन विचारों तथा कार्यों के बिना चल रही है। जीवन यंत्रवत् चल रहा है, यह ठीक नहीं है। प्रत्येक विद्यार्थी को सोचना चाहिए कि मैं उस यंत्रवत् जीवन को लेकर चल रहा हूँ तो इससे कौनसी उपलब्धि होने वाली है ? इस प्रक्रिया की अन्तिम परिणति क्या होगी ? जीवन में आज एक शान्त क्रान्ति की आवश्यकता है, जिससे हम ऐसी शक्ति प्राप्त कर सकें कि स्वयं अपना कल्याण करते हुए विश्व का भी कल्याण कर सकें। ऐसी भावना जागृत होने पर ही हम अपने जीवन को समझ पाएँगे और दोष रहित हो सकेंगे।

मनुष्य आज दोषों के ढेर में डूबा हुआ है। गल्तियों का पुतला बना हुआ है। बाहर के जीवन पर ही उसकी आँख ठहरी हुई है, भीतर के जीवन का उसे ज्ञान ही नहीं है। इस कारण पारिवारिक जीवन छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। परिवार में क्लेश-कलह, मनमुटाव तथा संघर्ष बढ़ रहे हैं। संकुचित एवं स्वार्थी प्रवृत्ति बढ़ रही है। पवित्रता और प्रेम का स्थान अशुद्धता तथा धूर्तता ने ले लिया है। यह सब मनुष्य के दोषपूर्ण विचार एवं आचार का ही परिणाम है। यदि मानव जीवन दोष विवर्जित हों तो जीवन सुन्दर बन सकता है। परिवार में एक ऐसे प्रेम का वातावरण पुनः बन सकता है कि सब मिलकर सुखी जीवन व्यतीत करें। अतः मनुष्य को अपने दोषों को परिमार्जित करते हुए चलना चाहिए। उसी से पारिवारिक जीवन शान्त बनेगा तथा समाज आगे बढ़ेगा।

मूल बिन्दु अपना लक्ष्य स्थिर करने का है। जो व्यक्ति अपना लक्ष्य ही भौतिकता को बनाएगा वह शान्ति को क्या समझेगा ? शान्ति उसे कैसे प्राप्त होगी ? किन्तु जो व्यक्ति आत्मा को अपना साध्य बनाएगा, वही चरम शान्ति एवं सुख को प्राप्त कर सकेगा। ऐसा व्यक्ति व्यर्थ की बातों में उलझकर अपने जीवन को नष्ट नहीं करेगा। वह तो शुद्ध आत्मस्वरूप का उपासक बनकर जीवन की महत्वपूर्ण कड़ियों को जोड़ता हुआ आगे बढ़ेगा।

जिस मनुष्य के भीतर आत्मिक शान्ति का संचार होता है, उसे फिर बाहर की किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। बाहर की समस्त वस्तुएँ, दिखावे और शान-शौकत के सभी पदार्थ उसके लिए निरर्थक हो जाते हैं। वह सादगी के मूल्य को समझने लगता है और उसमें उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। उसके भीतर से भौतिकता के, पाशविकता के संस्कार लुप्त हो जाते हैं तथा ऐसी भावना उसके हृदय में व्याप्त हो जाती है कि जिससे समस्त मानवों का कल्याण हो।

आज तो परिस्थिति विषम बन गई है। मनुष्य फैशन में इस प्रकार डूब रहा है कि उसे सच्चे सुख का आभास भी अब नहीं रहा। यहाँ तक कि पवित्र धार्मिक स्थलों पर भी आकर उसके दिमाग से शृंगार और प्रसाधन का भूत दूर नहीं होता। इस प्रकार धर्मस्थान में बैठकर भी वह दोष रहित न होकर दोष सहित बना रहता है। हमारी ये माताएँ यहाँ धार्मिक स्थल पर होती हैं, धर्म के वचन सुनने आती हैं, किन्तु तरह-तरह के शृंगार करके, आभूषणों से लदकर, बहुमूल्य जरी-गोटे के वस्त्र धारण करके आती हैं। ऐसी स्थिति में उनका सारा ध्यान तो अपने शृंगार पर ही टिका रहता है, तब वे धर्म का उपदेश कैसे सुनेंगी ? धर्मस्थान में आकर सादगी का जीवन अपनाना चाहिए, सरलता और शुद्धतारूपी आत्मिक सौंदर्य को बढ़ाना चाहिए जो कि मनुष्य का वास्तविक शृंगार है, सच्ची शोभा है। लेकिन वे ऐसा नहीं करतीं। सजधज कर आती हैं और अपना सारा ध्यान इसी बात में लगाये रहती हैं कि मेरे वस्त्राभूषण कितने सुन्दर हैं ? इन्हें दूसरी स्त्रियाँ देख रही हैं कि नहीं ? इन सब बातों में डूबने से उनमें आपस में ईर्ष्यावृत्ति जागृत

होती है, पाप की भावना का उदय होता है। इस प्रकार दोष रहित जीवन के स्थान पर उनका जीवन दोष सहित बन जाता है।

अन्य माताएँ जिनके पास इतने मूल्यवान वस्त्राभूषण नहीं होते वे यहाँ बैठी-बैठी यह चिन्तन किया करती हैं कि मेरे पास ये वस्तुएँ क्यों नहीं हैं ? अब घर जाकर मैं अपने पतिदेव से कहूँगी कि वे मेरे लिए भी इन वस्तुओं को लाएँ। भला मैं क्या किसी से कम हूँ ? इस प्रकार की भावना लेकर जो माताएँ-बहिनें यहाँ बैठेंगी वे धर्म का उपदेश क्या सुनेंगी ? घर जाकर वे पतिदेव से कहेंगी कि आप कुछ भी करिए, लेकिन मेरे लिए भी वैसे ही गहने बनवाइये जैसे कि औरों के पास हैं। इसके लिए आपको चाहे जो कुछ भी करना पड़े। भले ही आप अनीति से रुपया कमाओ, भले ही आपका यह मानव-जीवन नष्ट हो जाय तथा आपको नरक में ही क्यों न जाना पड़े, किन्तु मुझे तो गहने चाहिए। इस प्रकार से वे धार्मिक स्थल पर आकर भी अपने जीवन को दोष सहित बनाती रहती हैं तथा अन्य लोगों के जीवन को भी दोष सहित बनाती हैं।

बन्धुओ ! आज स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज की जन्म तिथि है। वे महान् आत्मा थे। आपका जीवन दोष रहित बन सके इसके लिए मैं आपको उनके जीवन से सम्बन्धित एक छोटी-सी घटना सुनाता हूँ। आचार्य श्री जी महाराज एक बार गोचरी को पधारे तो वहाँ उन्होंने एक बहिन से पूछा—"बाई ! आजकल तुम व्याख्यान में नहीं आती हो क्या कारण है ? सब कुशल तो है न ?"

बहिन ने उत्तर दिया—"महाराज ! मैं क्या करूँ, आपके श्रावक जी मुझे व्याख्यान में नहीं आने देते।" आचार्य श्री महाराज को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। श्रावक जी के आने पर उन्होंने उनसे भी पूछा—"भाई ! आप बाई को व्याख्यान सुनने क्यों नहीं आने देते ? धर्मकार्य में अन्तराय क्यों डालते हो?" तब श्रावक ने उत्तर दिया—"महाराज ! यह तो सत्य नहीं है। यह झूठ बोलती है। मैंने कभी इसे व्याख्यान सुनने जाने से नहीं रोका।

आचार्य श्री को यह सुनकर और भी आश्चर्य हुआ कि एक कहता है ये जाने नहीं देते और दूसरा कहता है कि मैंने तो कभी रोका नहीं। तब उन्होंने कहा—"भाई ! इसमें सत्य क्या है ? जो सच्ची बात हो वही मुझे बताओ।" तब अन्त में सत्य प्रकट हुआ और वह सत्य यह था कि उस बाई की चूड़ी की तीव टूट गई थी। चूड़ी सोने की थी। उस सोने की सुन्दर चूड़ी को पहने बिना बाई व्याख्यान सुनने आना चाहती नहीं थी, क्योंकि भला और स्त्रियों के सामने वह अपनी हेठी होते कैसे देखती ? सेठजी उस छोटी-सी बात पर ध्यान नहीं दे पाये थे। केवल इतनी सी बात के कारण वह बाई व्याख्यान सुनने नहीं आ रही थी।

बन्धुओ ! अब आप समझ ही गए होंगे कि जेवरों या वस्त्रों का झूठा और निरर्थक मोह ही उस बाई के धार्मिक जीवन में बाधा डाल रहा था तथा उसके जीवन को दोष सहित बना रहा था। किन्तु क्या यह बात अच्छी है ? क्या इस प्रकार के व्यवहार से कभी मनुष्य का कल्याण होना संभव है ? अब वह जमाना नहीं रहा जबकि मनुष्य इस प्रकार के प्रदर्शन करता रहे। जो व्यक्ति इस प्रकार का प्रदर्शन करते हैं उनके प्रति अन्य लोगों की तथा समाज की कोई अच्छी धारणा नहीं बनती। देखने वाले यही कहते हैं कि यह मनुष्य तो पाखण्ड करता है, प्रदर्शन करता है। कहने को तो यह कहता है कि जीवन सादगी से और सच्चाई से व्यतीत करना चाहिए, किन्तु स्वयं ऐसा नहीं करता। इस प्रकार से धार्मिक क्षेत्रों में ऐसा प्रदर्शन करना उचित नहीं है। इससे किसी भी व्यक्ति का हित नहीं होता बल्कि धर्म भावना में न्यूनता आती है, समाज का अहित होता है।

अतः आप सबको यह विचार करना चाहिए कि न केवल धार्मिक क्षेत्र में ही, बल्कि पारिवारिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी हमारा जीवन शुद्ध, शान्त एवं सुखी हो। हमें ऐसे जीवन का निर्माण करना चाहिए जो कि प्रदर्शनों से दूर हो और आत्मा का शृंगार करने वाला हो। सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते चले जा रहे हैं। इन विकारों को, इन बुराइयों को हमें दूर करना चाहिए। उदाहरण के लिए एक दहेज प्रथा को ही ले

यत्-किञ्चित्

गहराई में उतर कर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि मानव मात्र शान्ति की खोज में भटक रहा है। और मानव ही क्या पशु, पक्षी यहाँ तक कि क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी कीट पतंग का भी एक ही अन्तिम लक्ष्य है—शान्ति की प्राप्ति ! मनुष्य ने शान्ति प्राप्त करने के अनेक मार्ग खोजे हैं, अनेक पगडण्डियाँ बनाई हैं, बना रहा है, बनाता चला जा रहा है। चारों ओर से शान्ति और विश्वशान्ति का तुमुलनाद गूंज रहा है। सामाजिक एवं राजनीतिक धरातल पर अनेक संगठनों का निर्माण किया जा रहा है। सभी की एक ही चिन्ता है—जगत् में शान्ति की प्रतिष्ठा की जाय, शान्ति का साम्राज्य स्थापित किया जाय।

मगर शान्ति की महादेवी कहाँ विराजमान् है ? उसके निकट पहुँचने का कौन-सा मार्ग है ? इन प्रश्नों का जब तक सही समाधान नहीं हो जाता तब तक उस महादेवी के दर्शन दुर्लभ हैं। उसकी एक धुंधली सी झाँकी भी हमें नहीं मिल सकती। यही कारण है कि शान्ति प्राप्ति के लिए अब तक राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों द्वारा किये गये समस्त प्रयास अपनी असफलता की कहानी आप ही कह रहे ह।

मनुष्य के सामने आज बड़ी विकट समस्या है। कहावत है—'मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।" शान्ति के लिए किए जा रहे प्रयास अशान्ति वर्द्धक सिद्ध हो रहे ह ? क्या कारण है ? क्या आग बुझाने के लिए हम उसमें घृत की आहुति दे रहे है ? क्या शान्ति की स्थापना के लिए ऐसे उपायों की शोध करने में लगे ह जिसके फलस्वरूप अशान्ति ही हाथ लगे ?

हा तथ्य यही है, जिन महापुरुषों ने भूतकाल में शान्ति—अक्षय और अखण्ड शान्ति प्राप्त करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया, शान्ति प्राप्त की और जगत् को उसकी प्राप्ति का स्वानुभूत मार्ग दिखलाया, निश्चय ही उसी मार्ग पर चल कर आज भी शान्ति प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त उसे पाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। किन्तु दुर्भाग्य से दुनिया उस पथ से

लीजिए। यह प्रथा इतनी विषम है कि इसके कारण प्रतिदिन अनेक परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। अनेकों निर्दोष बालिकाओं का जीवन अभिशाप से ग्रसित हो रहा है। मध्यम वर्ग की स्थिति दो पाटों के बीच में पिस रही है। परिवार में एक कमाने वाला हो और दस खानेवाले हों, तो आखिर वह कब तक और किस प्रकार से काम चला सकता है ? मजदूर वर्ग में तो फिर भी यह स्थिति है कि सभी कुछ न कुछ कार्य कर लेते हैं और उनका काम चल जाता है। किन्तु मध्यम वर्ग के भाइयों का क्या हो ? इसीलिए मैं कहता हूँ कि जीवन में सादगी को अपनाइये और प्रदर्शन से दूर रहिये। अन्यथा आज सामाजिक जीवन में जितनी बुराइयाँ हैं, वे ही बहुत हैं, यदि उनमें और बढ़ोतरी हुई तो समाज पूर्णतया नष्ट हो जायगा।

आज समाज की, राष्ट्र की तथा विश्व की जो स्थिति है वह अत्यन्त चिन्तनीय है। भारतवर्ष किसी जमाने में सोने की चिड़िया कहलाता था। किन्तु आज भारत जैसा निर्धन देश शायद ही कोई हो। ऐसा क्यों हुआ ? इसका कारण क्या है ? कारण यही है कि हम जीवन की परिभाषा को ही भुला बैठे हैं। आध्यात्मिकता हमारे जीवन से दूर होती जा रही है। हम लोगों में स्वच्छन्दता की वृत्ति, उच्छृंखलता की भावना घर करती जा रही है।

अतएव मैं आपसे कहता हूँ कि आप जहाँ कहीं भी रहें, आपको प्रण करना चाहिए कि आप नैतिकता से रहेंगे। आपके सम्पूर्ण जीवन में कहीं भी अनैतिकता नहीं होनी चाहिए। धर्मस्थानों में आने पर तो मन और भी अधिक शुद्ध रहना चाहिए, पूर्णरूपेण सादगी आपके जीवन में होनी चाहिए। इस स्थान पर आकर आपके हृदय में प्रेम और समभाव का उदय होना चाहिए। चाहे कोई गरीब हो या अमीर सभी मनुष्यों के प्रति आपके हृदय में प्रेम, आदर और सहानुभूति की भावना होनी चाहिए। यह स्थल तो पवित्र बनाने वाला है, शुद्धि करने वाला है। इस स्थल पर आकर मन के समस्त विकार धुल जाने चाहिए, जीवन के सभी पाप धुल जाने चाहिए। जीवन की परिभाषा को हमें समझना चाहिए। जीवन की कला हमें सीखनी चाहिए। जीवन परिमार्जित होना चाहिए। नीतिकारों ने कहा है कि—

"अन्य स्थाने कृतं पापं धर्मं स्थाने विमुच्यते ।

अन्य स्थान पर हो गये पाप को भी व्यक्ति धर्म स्थान पर आकर छोड़ देता है और अपनी भूल का प्रायश्चित करता है। किन्तु यदि धर्मस्थान पर आकर भी पाप किया गया तो वह तो वज्रलेप हो जाता है । अतः इससे वचने का प्रयत्न कीजिये । ऐसे क्षेत्र में आकर सादगी धारण कीजिए, हृदय को शुद्ध वनाइये । ऐसा करने से ही आप सबको शान्ति मिल सकेगी तथा मध्यम वर्ग की स्थिति में सुधार आ सकेगा । विचार कीजिए कि स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज का जीवन कितना सुन्दर, सादगीमय और आदर्श रूप था । उनकी जन्म-तिथि के दिवस हमें उनके इन गुणों का स्मरण करते हुए अपने जीवन को भी वैसा ही वनाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

मैं अभी उदयपुर से आ रहा हूँ । उस नगर में मुझे एक विशेपता दिखाई पड़ी । वह विशेपता इस नगर में भी आनी चाहिएं । उदयपुर में वहुत से भाई वहिन व्याख्यान में आते हैं, तपस्या करने वाले भी आते हैं । वे सब पहिले दया पाल लेते हैं । और फिर या तो पहिले या वाद में तपस्या पचख लेते हैं। व्याख्यान के वीच में कोई अवरोध उपस्थित नहीं होता । वहाँ स्वयं श्रावक वोल देते हैं कि किसी को उपवास पचखना हो तो खड़े हो जायेंगे । तो या तो व्याख्यान से पूर्व अथवा व्याख्यान के पश्चात् उनको तपस्या पचखवा देता हूँ । यहाँ के लोग यदि व्याख्यान के वीच-वीच में तपस्या के लिए कहेंगे या हम पचखाएँगे और मंगलपाठ सुनेंगे तो विक्षेप होगा । ज्ञान का व्यवधान होगा । इससे ज्ञानावरणीय कर्म का वन्ध होगा । अस्तु, यहाँ के भाई भी इस वात को ध्यान में रखेंगे तो उचित होगा ।

यदि व्यक्ति अपने जीवन को शान्त तथा दोप रहित वनाएगा तो उसका पारिवारिक जीवन भी उन्नत होगा, सामाजिक जीवन भी आनन्दमय वनेगा तथा राष्ट्रीय जीवन भी उच्च वनेगा । किन्तु आज तो हम लोगों के जीवन में हिंसा वढ़ती जा रही है । शान्त जीवन को हम भुलाते चले जा रहे हैं । हिंसा जीवन को अत्यन्त कष्टमय वना देती है । हिंसा का एक रूप तो प्रकट

हिंसा का रूप होता है तथा एक सभ्य हिंसा होती है। प्रकट हिंसा अथवा असभ्य हिंसा वह होती है जिसमें कोई तलवार लेकर जाता है और किसी को मार देता है। दूसरी सभ्य हिंसा वह होती है जिसमें कोई किसी को प्रकट रूप में मारता हुआ तो प्रतीत नहीं होता, किन्तु भीतर ही भीतर ऐसी स्थिति बना देता है कि जिससे हिंसा होती है। ऐसी हिंसा भी कम पापमय नहीं है। यदि एक व्यापारी अनाज को इकट्ठा करके बैठ जाता है तथा लोग भूखे मरते हैं तो वह व्यापारी हिंसक कहा जायगा। यदि एक व्यापारी खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करता है तथा लोगों का जीवन खतरे में डालता है तो वह भी हिंसक कहा जायगा।

इसी प्रकार दहेज प्रथा को बढ़ाने और माँगने वाले लोग भी भारी हिंसा करते हैं। इस प्रथा ने समाज के जीवन को बहुत दूषित बना दिया है। यह प्रथा अनेक बार हिंसा को प्रेरित तथा उत्तेजित करती है। इस प्रसंग में मैं कभी-कभी एक घटना का जिक्र किया करता हूँ। वह दुःखद घटना इस प्रकार है—

देहली में एक अध्यापक थे। वेतन केवल ढ़ाई सौ रुपया मासिक था। पत्नी तो थी ही, तीन कन्याएँ भी थीं। देहली जैसा नगर और अल्प वेतन, गुजर-बसर कठिनाई से ही होता था। किन्तु किसी भी प्रकार से, कठिनाइयाँ झेलते हुए भी उन्होंने अपनी कन्याओं को अच्छी शिक्षा दिलाई थी। अब उनके सामने यह प्रश्न आया कि उन कन्याओं को किसके सामने सुपुर्द करें? उनका विवाह किस प्रकार किया जाय? ढ़ाई सौ रुपयों में से तो कुछ बचत होने का प्रश्न था ही नहीं। अब विवाह का खर्च कहाँ से लाएँ तथा इस प्रकार घोर सामाजिक अभिशाप—दहेज—का प्रबन्ध कैसे करें? कन्याएँ सभी प्रकार से सुयोग्य तथा सुशिक्षित थीं, किन्तु सास-ससुर को देने के लिए, उनकी अर्थलोलुपता को सन्तुष्ट करने के लिए द्रव्य उन अध्यापक के पास नहीं था।

अतः पति-पत्नी घोर चिन्ता में डूबे रहते थे। प्रायः आपस में चर्चा किया करते थे और समस्या का कोई समाधान खोजने का प्रयत्न करते थे। किन्तु

समाधान कोई होता तो निकलता। इस प्रकार दुःखी होकर वे सिर पीटकर रह जाते थे। अपनी बच्चियों की ओर देख-देखकर रोया करते थे।

एक दिन बच्चियों ने अपने माता-पिता को गहन चिन्ता में डूबा हुआ देखा और उनकी बातचीत भी सुनी। स्वाभाविक रूप से उनके कोमल हृदय पर इससे बड़ी टेस लगी।

अब एक दिन अवसर देखकर जबकि माता-पिता दोनों ही घर से बाहर गये हुए थे, उन बच्चियों ने एक निश्चय किया और मिट्टी का तेल छिड़कर आग लगाकर वे जल मरीं।

बन्धुओ ! वे कोमल, निष्पाप बालिकाएँ जो यह आत्मघात करके जल मरीं, वह हिंसा किसके सिर पर है ? यह दायित्व किसका है ?

इतना ही नहीं घटना का अन्तिम चरण यह है कि वे पति-पत्नी जब घर लौटे और उन्होंने यह दर्दनाक दृश्य देखा तब अपनी फूल जैसी कोमल बालिकाओं की इस दुःखदायी मृत्यु को देखकर उनका हृदय हाहाकार कर उठा। अब उनके लिए इस जीवन का कोई अर्थ, कोई मूल्य नहीं रह गया। परिणामतः वे भी इस दुःखी जीवन से हताश-निराश होकर उसी पथ के अनुगामी बन गए जिस पथ पर उनकी पुत्रियाँ गई थीं।

बन्धुओ ! बालिकाओं ने सोचा कि हमारा जीवन माता-पिता के लिए आर्त-रौद्र ध्यान का विषय बन गया है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में वे बेचारी आत्मघात जैसे पाप के मार्ग पर चली गई। उसी प्रकार माता-पिता भी इस दोष सहित जीवन से ऊबकर जल मरे।

आज हमारे समाज एवं देश की यह स्थिति है। कैसी विडम्बना हमारे जीवन में भर गई है ? कितना दोषमय हो गया है हमारा जीवन। आज का बुद्धिवादी वर्ग भी इस चक्र में बुरी तरह पिस रहा है। यह सभ्य हिंसा हो रही है, और हम कानों में तेल डालकर, आँखों पर पट्टी बाँधकर इन सामाजिक हिंसाओं को देख रहे हैं। मैं नहीं जानता कि आपके ब्यावर नगर में ऐसा हो रहा है कि नहीं, किन्तु संसार में यह हो रहा है, और यह घोर

चिन्ता की बात है। यदि ऐसी स्थिति चलती रही तो कौन-सा आध्यात्मिक लक्ष्य हम प्राप्त कर सकेंगे ? यह एक ऐसी सामाजिक कुरीति है जिसके कारण आपका मन चंचल बना हुआ है। इसका परिमार्जन करना अत्यन्त आवश्यक है। मैं कभी-कभी आपके सामने ऊँचे आदर्श की बात कह जाता हूँ। किन्तु हमारा आदर्श ही ऊँचा न होगा तो हमारा जीवन ऊँचा कैसे उठेगा ? जो ऊँचा पहुँचेगा वह ऐसा जघन्य कर्म नहीं करेगा। अतः अपने जीवन को शुद्ध बनाइये, लोभ और ईर्ष्या का त्याग करके ऊँचे आदर्शों को अपनाइये।

आज स्वर्गीय आचार्य श्री की जन्म तिथि है। उनके उच्च, महान्, पवित्र जीवन पर पूर्णरूपेण प्रकाश डाल सकूं इतना समय तो अब नहीं है, किन्तु उनके अनेक संस्मरण मुझे याद आते हैं। उन्होंने मेरे जीवन को ऐसा बनाया है कि मैं आज दो शब्द आपके सामने बोलने योग्य बन सका हूँ ! इस ब्यावर नगर ने भी उन महापुरुष की बहुत सेवा की है। अब हम सबको उनके आदर्शमय जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए। उनके सदुपदेश बड़े प्रभावकारी हुआ करते थे। सुनने वाले भाई-बहिनों में कभी-कभी बड़ी जागृति होती थी। प्रायः बहिनें जीवन में शृंगार का त्याग कर देती थीं और दहेज न लेने का प्रण भी करती थीं। तो यह कितनी अच्छी बात थी ? आज भी जो सामाजिक हिंसा सभ्य धरातल पर हो रही है, उसे रोकने का प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है।

आचार्य श्री ने एक बार एक घटना सुनाई थी। एक वकील साहब थे। बुद्धि से चतुर थे। उनके पास एक ऐसा मुकदमा आया जिसमें उनके मुवक्किल को पचास हजार रुपया देना था। यह सचाई थी। किन्तु मुकदमे के दौरान उन्होंने कुछ ऐसे तर्क किये और कुछ ऐसे झूठे-सच्चे गवाह पेश किये कि पचास हजार रुपये देने के बजाय उनके मुवक्किल को सामने वाले आदमी से उल्टे पचास हजार रुपये और दिलवा दिये। इस प्रकार उनके मुवक्किल को कुल मिलाकर एक लाख रुपये का लाभ हो गया। अब उसकी प्रसन्नता का क्या ठिकाना ? सो एक दिन जब वकील साहब घर पर थे और भोजन कर रहे थे तब वह मुवक्किल आया और उसने चुपचाप दस हजार रुपये के नोट वकील साहब को दिये।

वकील साहब जानते थे कि यह रुपया उन्हें क्यों दिया जा रहा है। किन्तु उन्होंने सोचा कि वे जरा अपनी बुद्धि का लोहा मुवक्किल के सामने अपनी पत्नी से भी मनवालें। अतः उन्होंने सब कुछ जानते हुए भी पूछा—

"क्यों भाई ! यह किस बात का रुपया तुम मुझे दे रहे हो ?"

मुवक्किल ने कहा—"वकील साहब ! यह सब आपकी तीव्र बुद्धि का ही प्रताप है। वस्तुतः मुझे तो पचास हजार रुपये सामने वाले आदमी को देने थे। किन्तु आपने मेरा मुकद्दमा इतनी चतुराई से लड़ा कि पचास हजार रुपये देने के स्थान पर उल्टे मुझे पचास हजार और उसी से दिलवा दिए। इस प्रकार मुझे आपने एक लाख रुपये का लाभ करा दिया है। सो आपकी सेवा में मैं यह दस हजार रुपये की तुच्छ भेंट रख रहा हूँ।"

वकील साहब ने सोचा कि उनकी पत्नी यह बात सुनकर खूब प्रसन्न हुई होगी कि उनके पति कितने बुद्धिमान हैं। उन्होंने तिरछी दृष्टि से उसकी ओर देखा। किन्तु उनकी आशा निराशा में ही परिणत हुई। क्योंकि उन्होंने देखा कि यह बात सुनकर उनकी पत्नी प्रसन्न होने के स्थान पर आँखों से आँसू बहा रही है। वे घबरा गए और पूछने लगे—

"क्यों प्रिये ! तुम्हें क्या हो गया ? क्या तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है ? शरीर में कहीं कोई पीड़ा है क्या ?"

किन्तु वकील-पत्नी को शारीरिक पीड़ा नहीं, आत्मिक पीड़ा हो रही थी। उसने उत्तर दिया—

"हाँ नाथ ! मुझे पीड़ा है, और बड़ी गहरी पीड़ा है। किन्तु वह पीड़ा कोई शारीरिक नहीं, बल्कि मन की पीड़ा है। आपने मनुष्य जन्म पाया और वकालत का धन्धा सीखा। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आप निर्दोष व्यक्तियों का गला काटें। मुकद्दमे आपको और बहुत से मिल सकते थे। लेकिन आपने इस मुकद्दमे में घोर अन्याय किया है। जरा सोचिए कि जिस आदमी के पचास हजार रुपये वापिस दिलवाने के स्थान पर आपने उल्टे उससे पचास हजार रुपये और अपने मुवक्किल को दिलवा दिए हैं, उसके

हृदय पर क्या बीत रही होगी ? उसके भी बाल-बच्चे होंगे। पत्नी होगी। परिवार होगा। इस स्थिति में उसकी क्या दशा होगी ? यह घोर अन्याय है। ऐसी पाप की कमाई मुझे नहीं चाहिए। कृपया आप यह धन्धा छोड़ दीजिए।"

वकील साहब को काटो तो खून नहीं। पत्नी की यह बात सुनकर वे बोले—

'अरी भागवान ! यदि मैं यह धन्धा छोड़ दूँगा तो फिर तेरे लिए जेवर कहाँ से आएँगे ? लड़कियों की शादी के लिए रुपयों की थैलियाँ कहाँ से आएँगी ?"

धर्म का विचार रखने वाली और पाप से डरने वाली उस महिला ने अपने पति की इस बात का जो उत्तर दिया वह ध्यान से सुनने और विचार करने योग्य है। उसने उत्तर दिया—

"पतिदेव ! अन्याय और पाप की इकाई से सुख भोग करने की बजाय मैं भूखों मर जाना, पसन्द करूँगी। जेवरों की तो बात ही क्या है ? मैं आपको वचन देती हूँ कि जीवन में कभी आपसे एक भी जेवर नहीं माँगूगी। इतना ही नहीं, मैं अपनी लड़कियों को भले ही अविवाहित रख लूंगी, उन्हें बाल ब्रह्मचारिणी बनाकर ऐसी शिक्षा दूंगी कि वे शान्तिपूर्वक धार्मिक जीवन यापन करलें, किन्तु मैं आपको यह अधर्म नहीं करने दूंगी। आप यह धन्धा छोड़ दीजिए।"

तो बन्धुओ ! एक तो वह बहिन थी जिसने कि अपनी सोने की चूड़ी टूट जाने पर घर में कलह मचा रखा था और व्याख्यान सुनने आना भी छोड़ दिया था। और एक यह बहिन भी थी जिसने अनीति के धन को प्राप्त करने की बजाय भूखों रह जाना ही श्रेष्ठ समझा और अपने पति से कहा कि वे ऐसी सामाजिक कुरीति और ऐसे धन्धे को ही छोड़ दें। इस प्रकार का आध्यात्मिक सुधार करने वाले कितने भाई-बहिन हैं ?

जरा विचार कीजिए कि हमारा जीवन किधर जा रहा है ? समाज में

कितनी हिंसा हो रही है ? मैंने जिस अध्यापक के परिवार के पूरे पाँचों व्यक्तियों के जीवन के नष्ट हो जाने की बात सुनाई तो कहिए कि उसमें कितनी हिंसा हुई ? एक कसाई कत्ल खाने में काम करता है तो पाप होता है। माँस खाने वाले को, परोसने वाले को, पकाने वाले को, बेचने वाले को, माँस का कारखाना खोलने वाले को और अनुमोदन करने वाले को भी पाप लगता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति आत्मघात करता है तो उसे घोर पाप लगता है। किन्तु वह जो हिंसा करता है, उसके पीछे उस हिंसा के भागीदार वे लोग भी हैं जिन्होंने ऐसी कुरीतियाँ चला रखी हैं। जब तक ये कुरीतियाँ तथा बुरे रिवाज समाप्त नहीं होते, तब तक सामाजिक जीवन दोष-रहित कैसे बन सकता है ? राष्ट्र का जीवन भी इन दोषों के रहते कभी सुखी नहीं बन सकता। यह जीवन घातक है। इसे तुरन्त त्याग देना चाहिए।

आप कहेंगे कि यह कठिन है। यदि हम ऐसा करेंगे तो सामाजिक जीवन कैसे चलेगा ? यह आपका भ्रम है। जरा गुजरात की ओर दृष्टि डालिए। उस समाज के विषय में सोचिए। उन्होंने अपने समाज में से ये कुरीतियाँ निकाल फेंकी है। मैं जब गुजरात में था तब मुझे बताया गया और मैंने देखा कि उस समाज में यह रिवाज नहीं है। उन्होंने कहा कि "महाराज ! यह रिवाज अग्रवालों, ओसवालों में है। हमारे अन्दर नहीं है। हम तो धार्मिक जीवन देखकर लड़के-लड़कियों का सम्बन्ध करते है। यदि कोई कुछ माँगता है तो हम स्पष्ट कह देते हैं कि तुम नीच हो, हम तुम्हारे साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहते।"

अतः बन्धुओ ! कोई कारण नहीं कि ऐसा जीवन गुजराती समाज तथा अन्य समाजों में तो चल सके और आपके समाज में नहीं चल सके। सब कुछ हो सकता है, आपका समाज भी इन घातक कुरीतियों का त्याग करके हिंसा से बच सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि आप अपने जीवन को थोड़ा दोष रहित बनाकर चलने का निश्चय करें।

रुक्मणी-चरित्र हम सब सुनते-सुनाते हैं। उनकी क्या विशेषताएँ हैं इस पर हमें ध्यान देना चाहिए। श्रीकृष्ण तीन खंड के अधिपति भी कहलाए

और उनका जीवन भी पूर्ण शुद्ध रहा। यही उनकी विशेषता है। ऐसी ही शुद्धता हमारे जीवन में भी आनी चाहिए, तभी हमारा सामाजिक और राष्ट्रीय धरातल ऊँचा उठ सकता है। दोषरहित जीवन की परिभाषा लम्बी-चौड़ी है। मैं आपको उसका संकेत दे रहा हूँ। आप सभी भाई चाहे यहाँ के हों अथवा बाहर से आए हों, इस बात पर विचार करें और मनन करें कि आपका जीवन कैसा है ? वह दोष सहित है अथवा दोषरहित है। यदि जीवन में दोष हैं, तो उन्हें दूर करना चाहिए।

एक व्यक्ति दर्पण के सामने खड़ा होता है तो उसे अपनी शक्ल जैसी है वैसी दिखाई देती है। उसी प्रकार आप अपने जीवन में परमात्मा के रूप को देखने का प्रयत्न कीजिए। यह विचार कीजिए कि परमात्मा का शुद्ध स्वरूप आपके द्वारा मलीन तो नहीं बनाया जा रहा है ? अपने गुण-दोषों का विवेचन करके विचार कीजिए कि क्या मैं जीने का अधिकारी हूँ ? मेरा जीवन कैसा है ?

स्वयं अपने विषय में भी मुझे यही विचार आता है। यह पूरा चातुर्मास ही अपना अवलोकन करने का है। मैं सोचता हूँ कि मैं साधुवेष में हूँ तो मेरा जीवन कैसा है ? उसमें क्या दोष है ? अपने साथ जो साधु हैं, उन्हें भी मैं यही परामर्श देता हूँ कि वे अपने-अपने जीवन का अवलोकन करें। साध्वीगण से भी मैं यही कहता हूँ। इस प्रकार सभी व्यक्ति अपना-अपना अवलोकन करें तो जीवन शुद्ध बन सकता है।

मैं तो अपने जीवन के विषय में भी आपको कहता हूँ। आप ध्यान रखें कि ये महाराज उपदेश दे रहे हैं तो ये स्वयं साधु चर्या में चल रहे हैं या नहीं। अपने जीवन की जिम्मेदारी मैं आपको देता हूँ। यदि आप यह देखें कि मुझमें कोई दोष है तो आप नग्न-सत्य मेरे सामने रखें। मैं स्थिति स्पष्ट करने का यत्न करूँगा। कोई भ्रान्ति होगी तो निकल जायगी। इसी प्रकार से किसी साधु-साध्वी के विषय में कोई बात हो तो पहले तो आप उनको ही समझायें और कहें कि महाराज ! आपने संसार का त्याग किया है तो आपका जीवन दोष रहित रहना चाहिए। वहीं आपको समाधान मिल जाय तो ठीक

है, अन्यथा आप मुझसे कहें। ऐसा विचार न करें कि हम नग्न सत्य कहेंगे तो महाराज नाराज हो जायँगे। हम तो आपका उपकार मानेंगे कि आपने हमारी कोई भूल या असावधानी है तो उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। इससे हमें भी सन्तोष होगा और आपको भी सन्तोष होगा। हम आपकी वात सुनेंगे और फिर आपको भी वताएँगे कि आपको कैसे चलना चाहिए।

तो वन्धुओ ! आज मैंने जो भगवान शान्तिनाथ की प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण किया, उसका शास्त्रीय दृष्टिकोण आपके समक्ष पूरा नहीं रख पाया हूँ। यह प्रतिदिन की वात है। आगे समय के अनुसार वह दृष्टिकोण आपके सामने रखता रहूँगा। आज तो पुनः यही कहना चाहता हूँ कि आप सब भाई यह विचार करें कि -"किम् जीवनम् ?" अर्थात् जीवन क्या है ? और उस विचार के साथ-साथ यह सोचें कि आपका जीवन कैसा है ? आप स्व-पर का चिन्तन करें। किन्तु पहिले 'स्व' का ही चिन्तन करना चाहिए। उसके पीछे परिवार, समाज और राष्ट्र का विचार स्वतः आगे वढ़ेगा। यदि आप इस दृष्टि से चलेंगे तो आज इस संसार में विनाश की जो भयानक लपटें चारों ओर से वढ़ती चली आ रही हैं उनका शमन हो सकेगा तथा वायु-मण्डल शुद्ध बनेगा। जिन महापुरुष के एक-दो जीवन-संस्मरण मैंने आपके समक्ष रखे, उनसे आप प्रेरणा लें तथा इस धरातल पर आज जो बुराइयाँ हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। केवल अपने वेष को ही स्वच्छ तथा सुन्दर बनाने से कोई हित नहीं होगा। अपने हृदय को भी स्वच्छ तथा शुद्ध वनाइये।

मुझे सूचना मिली है कि व्याख्यान के अन्त में षट्द्रव्य की स्थिति भूल जाते हैं। सो मैं सोचता हूँ कि श्रावकों को इसका ध्यान रखना चाहिए। मेरी ओर से छूट है कि व्याख्यान के बाद ही उसे चालू कर दिया करें, उसके वोलने से जीवन का ध्यान आता है।

आज कुछ समय अधिक ले लिया है मैंने। फिर भी सारा जीवन और उसकी परिभाषाएँ आपके सामने नहीं रख पाया। क्रमशः ही ऐसा सम्भव है।

मैं आशा करता हूँ कि इस नया नगर में नई आत्म जागृति फैलेगी, नये सिरे से श्रद्धा, प्ररूपणा तथा फरसना जागेगी, यदि आप अपने जीवन में से दोषों को दूर हटाएँगे तथा यह विचार निरन्तर किया करेंगे कि—**"किम् जीवनम् ?"**

●

विमुख हो रही है, उसकी उपेक्षा कर रही है। इसका भीषण परिणाम हमारे सामने है। आज समग्र विश्व अशान्ति की लपटों से बुरी तरह झुलस रहा है, कराह रहा है, आक्रन्दन कर रहा है। प्रगति प्राप्त भौतिक विज्ञान द्वारा आविष्कृत साधन क्या काम आ रहे हैं ? वे किसी रोग की दवा साबित नहीं हो रहे। उन्होंने मानव के हृदय में आकांक्षाओं के ईंधन से तृष्णा की भयंकर आग प्रज्वलित की है।

तो कैसे हम इन सर्वग्रासी लपटों से अपने आपको बचाएँ ? कैसे इस धरा धाम पर शान्ति की सरस शीतल सरिता प्रवाहित करें। जिसमें अवगाहन करके मानव अन्तर्दाह से छुटकारा पा सके ? सच्ची शान्ति का अखण्ड श्रोत कहाँ है ? शान्ति-महादेवी के मंगल मन्दिर में प्रवेश पाने का निरर्गल द्वार कौन-सा है ? किस पथ पर चल कर हम जीवन को दिव्य, भव्य, शान्तिमय, सफल और सुफल बना सकते हैं ?

इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ देने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत पुस्तक जो पाठक के हाथ में है यही इसका सही और सचोट उत्तर देगी। इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए आचार्यवर्य श्री नानालाल जी म० साहब ने अनुग्रहपूर्वक प्रवचन किए और श्री जैनमित्रमण्डल व्यावर ने इन्हें प्रकाशित करने की सुयोजना की है।

आचार्य श्री के प्रवचन दीर्घकालिक संयम साधना द्वारा आविर्भूत गम्भीर अनुभव के परिणाम हैं। आपको अपने पूर्व पुरुषों की एक प्रशस्त परम्परा भी प्राप्त है। इस प्रकार स्वानुभव और परम्परा के सुमेल से परिपूत ये प्रवचन मानव मात्र के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि "शान्ति के सोपान" का एकाग्रता पूर्वक अध्ययन करने वाला एवं इसमें प्रदर्शित विचारों के अनुरूप जीवनचर्या बनाने वाला प्रत्येक व्यक्ति शान्ति की राह पा सकता है, शान्ति का वरण कर सकता है और दूसरों के सामने आदर्श उपस्थित कर सकता है।

इन प्रवचनों के सम्पादन का उत्तरदायित्व चि० ज्ञान भारिल्ल के साथ मुझे सौंपा गया, एतदर्थ मण्डल के पदाधिकारियों का मैं आभारी हूँ।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

३ | गुरु का महत्व

"असंखयं जीविय मा पमायए……… ……।

"शान्ति जिन मुझ एक वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे।
शान्ति स्वरूप केम जाणिए, कहो मन केम परखाय रे ।।

प्रभु शान्तिनाथ की दिव्य एवं अखण्ड शान्ति को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा इस शरीर में स्थित मन का परीक्षण करने की दृष्टि से शास्त्रीय चिन्तन की ओर बढ़ रहे हैं। चूंकि शान्तिनाथ भगवान का स्वरूप दिव्य तथा अनन्त शक्ति से युक्त है और वह हमें इस देह पिण्ड के साथ शरीर की दृष्टि से दिखाई देने वाला नहीं है, अतः वह तो हमें दिव्य नेत्रों से ही दिखाई दे सकता है।

वह दिव्य स्वरूप हमारे भीतर ही है। इसी शरीर में वह विद्यमान है। उसे प्राप्त करने और जानने के लिए हमें कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। उस स्वरूप को ज्ञात करने के लिए शास्त्रकारों ने कहा है—

"नाणस्स सव्वस्स पगासणाए…… ……………।"

बन्धुओ ! उक्त गाथा का उच्चारण अस्वाध्याय के कारण अथवा अन्य प्रसंग के कारण रोका गया था। आज इस गाथा के विषय में विश्लेषण किया जा रहा है। अस्तु, उस स्वरूप को ज्ञात करने के लिए हमें ज्ञान शक्ति को भली प्रकार ज्ञात करने की आवश्यकता है। यदि हम उस ज्ञानशक्ति को ठीक तरह पहिचान लेंगे तो वह स्वरूप हमारे समक्ष स्पष्ट होकर झलकने लगेगा।

सूर्य की किरणों को देख लेने पर सूर्य की किरणों के आस-पास रहने वाले सकल पदार्थ स्वयमेव ही दृष्टिगोचर हो जाते हैं। किन्तु जिसने सूर्य की किरणों को ही प्राप्त नहीं किया, वह अन्धकार में चाहे जितना भी प्रयत्न

क्यों न करे, कुछ भी देख नहीं पाएगा। वह ज्ञान की शक्ति, आत्मा की शक्ति समग्र ज्ञान के रूप में है। यदि उस शक्ति को पहिचानने का प्रयत्न किया जाय तो शान्ति के प्रथम सोपान का ठीक ज्ञान हो सकता है। अब प्रश्न यह है कि वह ज्ञान शक्ति भी हमको ठीक तरह से कैसे प्राप्त हो ? इसी प्रश्न के उत्तर का संकेत करने हेतु शास्त्रकार ने आगे की गाथा में बताया है कि—

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा……।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान की अनन्त शान्ति की मंजिल का जो मार्ग है, वह कहाँ से मिलेगा ? इसका उत्तर दिया गया है कि—"गुरुवृद्ध सेवा"—अर्थात् गुरु एवं वृद्ध पुरुषों की सेवा करने से वह मार्ग सरलतापूर्वक मिल सकता है। गुरुजनों की स्थिति यदि वास्तव में गुरु की गरिमा के उपयुक्त है तथा वे वृद्ध पुरुष भी अपना योग्य अनुभव रखते हैं तो उनकी सेवा से जीवन-यात्रा सफल होती है। अतः प्रत्येक क्षेत्र में सन्त-संगति का बहुत महत्व बताया गया है। यह निश्चित है कि कोई व्यक्ति सन्त पुरुषों की संगति के बिना प्रभु का मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मिक शान्ति का मार्ग उसके लिए अजाना और अप्राप्य ही रह जाता है। यह आध्यात्मिक जीवन की उज्ज्वल ज्योति प्रत्येक व्यक्ति के लिए सहज लभ्य नहीं है। यदि कोई भी व्यक्ति यह शक्ति प्राप्त कर सकता होता तो आज मनुष्य की यह स्थिति नहीं होती, मानवता इस प्रकार पतन के कगार पर खड़ी दिखाई न देती। यह अशान्ति आज इस संसार में चारों ओर घिरी हुई न होती। किन्तु इस दिव्य शक्ति को प्राप्त करने वाले बिरले ही होते हैं। वे अपनी साधना के क्षेत्र में अविराम चलते हुए जन-समुदाय को भी सही दिशा का निर्देश करते चलते हैं। ऐसे महापुरुषों के सम्पर्क में जाने से आत्मा में एक अपूर्व उल्लास आता है, हृदय के बन्द कपाट खुल जाते हैं, ज्ञान की अनबूझ जिज्ञासा-पिपासा जागृत होती है और वे यह दृढ़ निश्चय कर लेते हैं कि ऐसी शक्ति अवश्य ही प्राप्त करनी है—सम्पादित करनी है।

जो सन्त महापुरुष हैं, वे भी किसी समय गृहस्थ ही थे। गृहस्थों के समान ही उनका शरीर है। वे ही नेत्र, कान इत्यादि शरीर के समस्त अंगो-

पांग हैं। ऐसा होने पर फिर क्या कारण है कि वे गृहस्थ से आगे और ऊँचे उठ जाते हैं ? कारण यही है कि उन्होंने अपनी साधना के बल से अपनी ज्ञान शक्ति को पहिचाना है, जागृत किया है। आपको सोचना चाहिए कि जब वे आगे बढ़ सकते हैं तो आप क्यों पीछे रहें ? आप भी उनका अनुसरण करके आगे बढ़ सकते हैं। इस भावना से मनुष्य की प्रारम्भिक स्थिति में सन्त संगति को नितान्त आवश्यक, अत्यन्त उपयोगी बताया गया है। जिस व्यक्ति को सन्त संगति मिल गई, गुरु की शरण मिल गई और सच्चे ज्ञान का दिग्दर्शन कराने वाले शास्त्रकार मिल गये, तो समझिए कि उसे शान्ति का प्रशस्त मार्ग मिल गया।

गुरु के बिना वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। चाहे जितनी पुस्तकें पढ़ ली जाय, किन्तु पुस्तकों का मर्म गुरु के अभाव में व्यक्ति के हाथ में नहीं आ पाता। शास्त्र सारे के सारे रट लिए जायें किन्तु उन शास्त्रों का नवनीत शास्त्रों का सार मनुष्य को तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक कि उसे सच्चा गुरु न मिले। एक तोता भी बहुत सी बातें, बहुत से श्लोक रट सकता है, किन्तु क्या वह उनमें से एक भी शब्द का अर्थ समझ सकता है ? बोलने को तो ग्रामोफोन या टेप रिकार्ड करने वाली मशीन भी बोल सकती है, किन्तु उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार जिन व्यक्तियों का जीवन केवल यन्त्रवत् बना हुआ है, कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। शास्त्रों का नवनीत तो शास्त्रों के ज्ञाता गुरुजनों के समीप जाने से ही प्राप्त हो सकता है। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने दिल और दिमाग को स्वच्छ करके सत संगति में बैठे तथा उस सत्य स्वरूप को सत्य भगवान को जो आपके, मेरे और सभी के भीतर विद्यमान है, उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करे। जो व्यक्ति इस दृष्टि से चलता है उसका जीवन फिर स्वतः ही अपने पैरों पर उठ खड़ा होता है तथा आगे बढ़ने लगता है।

इस संसार में सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म ये सब व्यवहार की दृष्टि से हैं। किन्तु निश्चय की दृष्टि से हमारा ज्ञान ही गुरु है, आत्मा ही देव है और अपना स्वरूप ही धर्म है। यह कथन यदि अपेक्षा दृष्टि से लिया जाए तो

उपयुक्त है। किन्तु यदि मनुष्य अभी प्रथम कक्षा में ही प्रवेश नहीं कर पाया है अथवा अभी प्रथम कक्षा में ही है और वह यह सोचले कि उसे किसी से कुछ जानना शेष नहीं रहा—उसका ज्ञान ही गुरु है, उसकी आत्मा ही देव है, वह जो कुछ भी अनुभव कर रहा है वही धर्म है—तो ऐसा व्यक्ति निश्चय ही जीवन में भटक जायगा।

संपर्क प्रभावशाली होता है। माता की कुक्षि में जन्म लेने के पश्चात् मनुष्य में संस्कार उसके संपर्क से बनने आरम्भ हो जाते हैं। जैसी-जैसी क्रियाएँ वह वहाँ देखता है, जैसा व्यवहार अपने सामने परिलक्षित करता है, उन्हीं को पकड़कर चलने लगता है। आप देखते हैं कि यदि एक किराने के व्यापारी का लड़का है तो वह अपने खेल-कूद में काँटा बनाएगा तथा और कोई वस्तु न मिली तो धूल को ही तोलेगा। यदि वह वकील का या अध्यापक का बच्चा है तो फाइलें, पुस्तकें उलटने-पलटने लगेगा। यदि किसान का बच्चा है तो हल उठाएगा। माता के पास रहने वाला बच्चा माता की विभिन्न चेष्टाओं से संस्कार ग्रहण करता है। यदि वह घर की सफाई करती हो, तो वह भी वैसा ही करने लगता है। यदि वह रसोई बना रही हो तो वह भी उसी प्रकार की चेष्टा करने लगता है। यह बाल-स्वभाव है। आप यह सोचें कि बच्चा है, उसे कुछ भी करने दो, तो यह उचित नहीं है। संस्कारों का प्रभाव बालक के जीवन पर बड़ा स्थाई, महत्वपूर्ण और दूरगामी होता है। यदि जन्मते ही बालक को अच्छे संस्कार नहीं दिए गए, यदि उन्हें संत-संगति में नहीं ले जाया गया तो फिर आगे जाकर वे कोल्हू के बैल बन जायेंगे और उन पर संतों का प्रभाव भी कठिनाई से ही पड़ सकेगा।

वही बालक शिक्षा प्राप्त करने हेतु शिक्षक के पास जाता है। वर्णमाला सीखता है। एक-एक करके पहली से दसवीं कक्षा तक पहुँचता है। इस बीच उसे शिक्षक की आवश्यकता बराबर बनी रहती है। एम० ए० पढ़ाई तक भी यह आवश्यकता दूर नहीं होती। इतना शिक्षण प्राप्त कर लेने पर फिर वह छात्र स्वतन्त्र रूप से आगे अध्ययन कर सकता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने हेतु किसी आध्यात्मिक-महा-

पुरुष-शिक्षक की आवश्यकता है। उस महापुरुष में स्वयं के भीतर ज्ञान का प्रकाश होना चाहिए, तभी वह अन्य व्यक्ति को अन्धकार से बचा सकेगा।

जैसी स्थिति व्यावहारिक क्षेत्र में ज्ञान-प्राप्ति की है, वैसी ही स्थिति धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है। पूर्ण एवं सत्य ज्ञान की प्राप्ति हेतु आरंभ में व्यक्ति को किसी सद्गुरु की आवश्यकता रहती है। कोई व्यक्ति यदि आध्यात्मिक क्षेत्र में अभी वर्णमाला भी नहीं सीख पाया हो अथवा प्रथम कक्षा में भी प्रविष्ट न हो पाया हो, और वह यह सुनले कि देव तुम्हारी आत्मा है, गुरु तुम्हारा ज्ञान है और धर्म तुम्हारा स्वरूप है—और ऐसा सुनकर वह यह मान बैठे कि अब उसे किसी गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं है, तो निश्चय ही वह भटकेगा, अज्ञान में डूबा रहेगा और अपनी आत्मा का अकल्याण करेगा।

एक जंगली आदमी यदि सभ्य समाज में नहीं आता, शिक्षा ग्रहण नहीं करता, तो वह सदा के लिए जंगली ही बना रहेगा। सभ्यता, संस्कृति एवं ज्ञान का प्रकाश उसे कभी प्राप्त नहीं होगा। यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे ज्ञान की वर्णमाला सीखनी ही पड़ेगी, गुरु के आश्रय में एक-एक कक्षा को उत्तीर्ण करना पड़ेगा। इसी प्रकार की स्थिति आध्यात्मिक ज्ञान के संबंध में भी है। इस क्षेत्र में चौदह कक्षाएँ मानी गई हैं। इन कक्षाओं का ज्ञान आज के नवयुवकों को नहीं है। आप में से बहुतेरे भाई-बहिनों को भी नहीं है। हाँ, किसी को यदि पच्चीस बोल आते हों तो वह गुण-स्थानों को जान सकता है। किन्तु उसे भी यह ज्ञान नहीं होगा कि उसकी आध्यात्मिक कक्षा कौन सी है। इस कक्षा का ज्ञान होना परमावश्यक है। आध्यात्मिक क्षेत्र में तेरहवीं कक्षा तक गुरु की आवश्यकता बनी रहती है। तेरहवीं कक्षा में पहुँच जाने पर सारा संसार हाथ की हथेली की रेखाओं के समान स्पष्ट दिखाई देने

साधना में लगना चाहिए। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि एक घण्टे के लिए धर्मस्थान पर आकर बैठ लिए और सन्तों का उपदेश सुन लिया तो आपका कर्तव्य समाप्त हो गया। यह साधना निरन्तर चलनी चाहिए। जिस प्रकार एक वकील वकालात की डिग्री प्राप्त कर लेता है, किन्तु उसके बाद भी उसे किसी अनुभवी वकील के साथ रहकर कुछ समय तक अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता बनी रहती है, उसी प्रकार आपको भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने हेतु किसी अनुभवी एवं ज्ञानी सन्त के पास जाना चाहिए, उनकी सेवा करके उनसे ज्ञान और अनुभव प्राप्त करना चाहिए।

'गुरु' शब्द आया। उसकी व्याख्या शास्त्रकारों ने की है और दूसरे सोपान में यह बताया गया है—

"क्रिया संवर सार रे···· ·············।"

हमें इस गाथा का भी अर्थ करना है और शास्त्रीय गाथा का भी अर्थ करना है। 'गुरु' शब्द शास्त्रीय दृष्टि से भी आया है और प्रार्थना में भी आया है। तो 'गुरु' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

'गु' का अर्थ है अन्धकार और 'रु' का अर्थ है निरोध। अर्थात्, जो अन्धकार का निरोध करे वह गुरु है। जो अन्धकार का निरोध नहीं कर सकता वह गुरु नहीं है। यहाँ अन्धकार के विषय में भी जान लेना चाहिए। आजकल के बुद्धिवादी तर्क कर सकते हैं कि सूर्य अन्धकार को दूर करता है, अतः उसे गुरु क्यों न मानें ? तो यहाँ यह समझने की बात है कि सूर्य केवल द्रव्य अन्धकार का नाश करता है, जबकि गुरु शब्द की व्याख्या भाव अन्धकार को नाश करने के लिए है। अर्थात् अज्ञान रूपी अन्धकार जो कि मनुष्य को भव-भवान्तर में भटकाने वाला है, उसे जो दूर करे वही गुरु कहलाने का अधिकारी हो सकता है। यह अज्ञान रूपी अन्धकार बाहर कहीं नहीं रहता, वह तो मनुष्य के भीतर रहता है। इस भीतर के अन्धकार को दूर करने के लिए ही सुयोग्य, ज्ञानी, अनुभवी गुरु की आवश्यकता रहती है। ऐसा गुरु, जिसने स्वयं अपने भीतर के अन्धकार को नष्ट कर दिया हो और जो दूसरों

के भीतर रहे हुए अन्धकार का भी विनाश कर सकता हो। इसी दृष्टि से हमें यह ठीक प्रकार से जान लेना चाहिए कि ज्ञान क्या है और अज्ञान क्या है ?

सच्चा ज्ञानी पुरुष कभी अपने ज्ञान का अहंकार नहीं करता है। वह तो ऐसा ही मानता है कि वह अल्पज्ञ ही है। तथा वह अपने ज्ञान का दान सुपात्र को वितरित करने में कभी संकोच नहीं करता। इस ज्ञान-दान के लिए वह बदले में कुछ प्राप्त करने की अभिलाषा भी नहीं रखता। प्राचीन काल में गुरुजन ज्ञान निःशुल्क दिया करते थे। आज से कुछ समय पूर्व तक भी यही स्थिति थी। किन्तु आज तो अध्यापन एवं ज्ञान-दान केवल एक व्यवसाय बनकर रह गया है। समय के अनुसार कुछ परिवर्तन संसार और संसार के व्यवहार में अवश्य होते है, किन्तु मूल मानवीय गुण कभी नहीं बदला करते और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम कभी मानवता के स्तर से ही नीचे न गिर जाँय।

गुरुओं की व्याख्या तीन तरह से की जा सकती है। एक संरक्षक, दूसरे अध्यापक एवं तीसरे धर्मगुरु। धर्मगुरु आत्मा की ज्योति जगाने वाले है। दूसरे संरक्षक व्यावहारिक शिक्षण देने वाले हैं तथा तीसरे आजकल के अध्यापकों का दृष्टिकोण कुछ ऐसा बन गया है कि वे यह सोचते है कि हमें तो अपनी ड्यूटी बजा देनी है। फिर चाहे छात्र का कुछ भी बने और कुछ भी बिगड़े। भले ही वे देश भक्त बनें अथवा देशद्रोही। समाज ऊँचा उठे या रसातल में जाय, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती। यह स्थिति बड़ी शोचनीय है। काश ! हमारे अध्यापक अपने कर्त्तव्य को, अपनी ड्यूटी को पूरी तरह से समझें, संरक्षक अपने दायित्व को भली प्रकार से निभाएँ एवं हमारे धर्मगुरु निर्लोभ, निष्काम होकर लोगों की आत्मा में प्रकाश फैलाएं तो हमारे समाज का उद्धार हो सकता है, हमारा राष्ट्र चरित्रवान बनकर संसार के शिखर पर पहुँच सकता है।

धर्मगुरुओं को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए। यदि वे मान-सम्मान, यश और लालच के प्रलोभन से दूर रह कर सच्चा आत्म ज्ञान प्रदान

करें तो जनता का वहुत हित होगा। अन्यथा वे भी वास्तविक ज्ञान नहीं दे पाएँगे तथा जन-मन को अन्धकार में ही भटकाते रहेंगे। इन स्थान पर पुराण की एक उक्ति मुझे याद आती है—

एक राजा था वह बड़ा दुर्व्यसनी था। उसके अवगुण देखकर जनता में उसका बड़ी आलोचना होने लगी। स्थान-स्थान पर लोग उसकी निन्दा करते थे। यह देखकर राजा ने विचार किया कि किस प्रकार इस लोकनिन्दा से वचा जाय। उसने अपने दरवारियों से परामर्श किया। एक विद्वान्, जोकि व्याख्यान देने में चतुर था, उसने राजा को परामर्श किया कि वह कुछ भी ऐसी धार्मिक क्रियाओं में लग जाय जिससे जनता सोचने लगे कि राजा तो वड़ा धार्मिक है और उसकी निन्दा करना वन्द कर दे। यह परामर्श सुनकर राजा ने पूछा— "ऐसा कैसे करना चाहिए ?" उस पंडित ने उत्तर दिया—"राजन् ! इसमें करना क्या है ? आप किसी पंडित को बुलाकर एक घंटे के लिए उससे पुराण सुन लिया करिए। जनता सोचेगी कि अहा ! राजा जी तो पुराण सुनते हैं वड़े धार्मिक हैं।"

राजा को बात जँच गई। वह बोला—"तब तो पंडित ! मैं और किसे ढूंढ़ने जाऊँ, तुम ही आजाओ।" पंडित ने पूछा—"आप मुझे कितना वेतन देंगे ? राजा ने पंडित को प्रतिदिन सोने के दो टके देना स्वीकार किया और वात पक्की हो गई। राजा प्रतिदिन पुराण सुनने लगा और पंडित प्रतिदिन सोनैये के दो टके प्राप्त करने लगा। दोनों प्रसन्न थे।

एक दिन पंडित के सम्वन्धियों का समाचार आया कि विवाह का प्रसंग है, आपका इसमें सम्मिलित होना आवश्यक है। अव पंडित असमंजस में पड़ गया कि यदि उस विवाह से सम्मिलित होने जाता हूँ तो एक सप्ताह लग जायगा और सोने के चौदह टकों की हानि हो जायगी। और यदि नहीं जाता हूँ तो सम्वन्ध टूट जाता है। वड़ी उलझन है क्या किया जाय और क्या न किया जाय ?

पंडित का लड़का विद्वान् था। उसने अपने पिता को चिन्तातुर देखा तो पूछा कि वे क्यों चिन्तित हैं ? जव पंडित ने सारी वात कहीं तो उसने

कहा—'पिताजी, आप व्यर्थ चिन्ता कर रहे हैं। आप प्रसन्नतापूर्वक विवाह में सम्मिलित होने पधारिए, मैं राजा को पुराण सुनाने चला जाया करूँगा। इस प्रकार दोनों ही कार्य हो जायेंगे। पंडित को बात ठीक लगी। उसने लड़के को सावधान किया कि पुराण ठीक से सुनाना और स्वयं विवाह-यात्रा पर चल पड़ा।

पंडित-पुत्र राजा को पुराण सुनाने गया। उस पंडित-पुत्र ने अपने व्यावहारिक जीवन में एक गुण अपना रखा था कि किसी को धोखा नहीं देना। जैसी हो, वैसी सत्य बात कह देना। पुराण-वाचन के समय एक श्लोक ऐसा आया कि—

"तिल सर्षप मात्रं यो नरो मांसं भक्षति··········

उस श्लोक का सारांश यह था कि तिल-सरसों मात्र भी मांस जो मनुष्य खाता है वह नरक में जाता है। और वह नरक में तब तक रहेगा जब तक कि चांद-सूर्य आकाश में घूमेंगे।

पंडित-पुत्र ने जो सच-सच बात थी वह बता दी। श्लोक का जैसा अर्थ था वह कर दिया। किन्तु इस कटु-सत्य को सुनकर राजा चिढ़ गया और कुपित हो गया। वह बोला—"पंडित! अपना पोथा बन्द करो मैं तो आज तक मनों मांस खा गया हूँ। तुम्हारे पुराण के अनुसार तो मुझे नरक हो ही गया, और वह भी अनन्तकाल के लिए। सो मुझे अब तुम्हारा पुराण नहीं सुनना है और सोने के टके भी नहीं देने हैं। तुम जा सकते हो।"

पंडित-पुत्र सत्यवादी था, स्पष्टवादी था। उसने कहा—"हाँ राजन्! पुराण तो ऐसा ही कहता है।" और इतना कहकर वह अपने घर चला आया।

जब उसका पिता घर लौटकर आया तो उत्सुक होकर उसने अपने

पुत्र से हालचाल पूछा कि सब कुछ ठीक है कि नहीं, सोने के टके आ रहे हैं कि नहीं ? पुत्र ने जो कुछ घटित हुआ था वह सब कुछ अपने पिता को बता दिया। पण्डित सिर पीटकर रह गया। बहुत क्रोधित हुआ। बड़ा दुःखी हुआ। बोला—"अरे मूर्ख ! तूने घर आती लक्ष्मी को ठोकर मारदी। हमें सच्ची बात से क्या मतलब ? जिसे सुनकर राजा प्रसन्न रहे, वैसी ही बात सुना देनी चाहिए। हम तो व्यवसायी हैं।"

लड़के ने जो उत्तर दिया वह मनन करने योग्य है। उसने कहा—"पिताजी ! मैं तो भूखों मर जाना श्रेयस्कर समझूँगा, किन्तु धोखेबाजी करना मैं पाप समझता हूँ। अर्थ का अनर्थ मुझसे नहीं हो सकता।"

आखिर पण्डित अपना पुराण लेकर स्वयं राजा के पास गया और बोला—"राजन् ! मैं बाहर चला गया था। मेरा लड़का अभी छोकरा ही है। उसे अनुभव नहीं है। आप रुष्ट न हों, मैं आपको पुराण सुनाता हूँ।" राजा ने कहा—"मुझे पुराण-वुराण अब कुछ नहीं सुनना है। मुझे तो नरक में जाना ही है, अब मैं सोने के टके देने वाला नहीं हूँ।"

यह सुनकर पण्डित ने कहा—"महाराज ! मैं आपको बिना मूल्य लिए ही पुराण सुनाऊँगा। आप सुनिए तो सही।"

आखिर पुराण-पाठ आरम्भ हुआ। वही श्लोक सामने आया—"तिल-सरसों मात्र.......।" इसे सुनते ही राजा फिर चमका, बोला—"इसका अर्थ आपका पुत्र मुझे बता गया है, आप रहने दीजिए।" तब पण्डित ने कहा—"आप उसका अर्थ जरा ध्यान से सुनिए। वह बच्चा क्या अर्थ बताएगा ? राजन् ! इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'जो तिल-सरसों मात्र माँस खाता है, वह नरक में जाता है। किन्तु आप जैसा राजा जिसे कि माँस खाना ही पड़ता है, वह यदि मनोवंध माँस खाता है तो वह नरक में नहीं जाता। अतः आप जब मांस खाएँ तो तिल-सरसों मात्र मत खाइये, खूब खाइये, भरपेट खाइये, मनोवंध खाइये।'

प्रकाशकीय वक्तव्य

"सतां सद्भिः संगःकथम पि हि पुण्येन भवति" के अनुसार जैन समाज के जाज्वल्यमान नक्षत्र जैनाचार्य श्री नानालाल जी म० सा० का ब्यावर नगर में पधारना मंगल सूचक होने के साथ ही परम सौभाग्य का विषय भी होता है। परमश्रद्धेय, यशस्वी विचारक, एवं आत्मिक शान्ति के प्रखर प्रवक्ता का एक-एक वचन आत्म-ज्ञान एवं शान्ति लाभ की दृष्टि से "सर्व जन हिताय, सर्व जन सुखाय" के लक्ष्य से युक्त होता है। ऐसे महापुरुष का चातुर्मास ब्यावर में संभव हो सका, यह ब्यावर तथा उसके आस पास की जनता के लिए परम हर्ष एवं गौरव की बात है।

आचार्य श्री के इन विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों के व्यापक प्रचार की दृष्टि से तथा लोक कल्याण की सद्भावना से "श्री जैन-मित्र-मंडल," ब्यावर ने इसके प्रकाशन की योजना निर्मित की तथा उसी के फलस्वरूप यह प्रथम भाग प्रस्तुत है। शेष चार-पांच प्रवचन संग्रह यथा समय प्रबुद्ध पाठकों के कर कमलों में सादर समर्पित किए जायेंगे।

भावनाशील श्रोता या पाठक के हृदय को सीधे तौर पर संवेदित व जागृत करने के लिए जब प्रबुद्ध जनों की शास्त्रसम्मत विचारणा से उभर कर उनकी अपनी मौलिक निष्ठा को स्पर्श करते हैं तब वचन, प्रवचन की कोटि में आते हैं वे प्रवचन श्रोताओं एवं पाठकों को उद्बुद्ध कर कर्मठ बनाते हैं तथा स्वयं और समाज दोनों के जीवन को हर दृष्टि से आदर्श व शान्तिमय बनाने की सत्प्रेरणा देते है। प्रस्तुत संकलन "आत्मिक-शान्ति" की प्राप्ति की दिशा को प्रकाशित करते हैं। पाठक आचार्य श्री के प्रवचनों से सत्प्रेरणा लें और आत्मिक शान्ति प्राप्ति के उपायों व कार्यों का घर-घर में प्रचार हो, यही कामना है।

बंधुओ ! यह कैसी क्षुद्र, कैसी स्वार्थ-प्रेरित दृष्टि है ? जब ऐसी दृष्टि आ जाय, तब सत्य का निरूपण किस प्रकार हो सकता है ? और जब तक सत्य का निरूपण नहीं होता, तब तक मनुष्य की आत्मोन्नति कैसे सम्भव है ?

अतः बंधुओ ! सद्ज्ञान की प्राप्ति के लिए, मंगलमय शान्ति प्राप्त करने के लिए, अपनी आत्मा को पवित्र बनाकर आध्यात्मिक उत्थान हेतु सद्गुरु की शरण लीजिए और यह कभी न भूलिए कि जैसी संगति होगी, वैसा ही जीवन बनेगा। इत्यलम्

४ | शान्ति-सोपान

"शांन्ति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शान्ति स्वरूप केम जाणिए कहो मन केम परखाय रे।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियाँ निवेदित की जा चुकी हैं। उनमें से कुछ का अर्थ यहाँ किया जा रहा है। अब तक जिन कड़ियों का कुछ संकेत दिया जा चुका है, उन्हें छोड़कर आगे की कड़ियों का उच्चारण किया गया है। शान्तिनाथ भगवान की शान्ति चरम सीमा की है, वह ऐसी अवर्णनीय शान्ति है जो अन्तिम है और जिसकी उपमा देने के लिए इस संसार में कोई पदार्थ है ही नहीं। वह शान्ति अनुपम है, अलौकिक है। ऐसी उत्कृष्ट, अनुपमेय शान्ति को धारण करने वाले महाप्रभु के चरणों में जिस व्यक्ति ने अपने जीवन को रखा है तथा उनके आदेशानुसार अपने जीवन का निर्माण करना आरम्भ किया है, वही शान्तिनाथ भगवान की उस चरम शान्ति की सीमा का अनुभव कर सकता है।

किन्तु ऐसी अमृतमय उस शान्ति का सोपान बतलाने वाले कौन हैं? क्योंकि जब तक वह सोपान हमें दिखलाई ही नहीं देगा, तब तक हम उस पर चढ़ कैसे सकेंगे? प्रथम सीढ़ी के निर्देश के साथ ही द्वितीय श्रेणि की ओर जाने के लिए—प्रभु शान्तिनाथ की अन्तिम मन्जिल पर पहुँचने के लिए सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की श्रद्धा, विश्व में रहने वाले समग्र जड़ और चेतन का विश्वास, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, मांडलिक, साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, आदि व्यवस्थाओं में विश्वास तथा अमुक साधना से श्रद्धापूर्वक चलने से यह शान्ति का स्वरूप प्रकट हो, यह प्रथम सोपान के अन्तर्गत आ जाता है। किन्तु इसका वास्तविक ज्ञान तो गुरु ही करा सकते हैं। गुरु के बिना यह ज्ञान होना सम्भव नहीं। उनके समुचित निर्देश के अभाव में मनुष्य

के हाथ में मात्र इधर-उधर भटकना ही रह जाता है। इसलिए शास्त्रीय गाथा का अर्थ आपके सामने रखा जा रहा है।

तस्सेसमग्गो गुरु विद्धसेवा

बन्धु! यदि आप ज्ञान की उस चरम सीमा को प्राप्त करना चाहते हैं तो उसका मार्ग, उसका सोपान आपको केवल गुरु की सेवा करने से ही प्राप्त हो सकता है। अब जो मुख्य प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है वह यह है कि गुरु की सेवा किस विधि से करें? क्या गुरु की सेवा करने का अभिप्राय यह है कि उनके समीप बैठकर उनके चरण दबाए जायँ अथवा उनके लिए आहार-पानी-वस्त्र इत्यादि लाकर दिए जाँय? शारीरिक दृष्टि से कुछ वस्तुओं की आवश्यकता सभी को होती है। उन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उनकी सेवा उपासना करते हुए जीवन में महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

किन्तु यह सेवा दो प्रकार से बन सकती है। इन दोनों प्रकारों की सेवा के लिए स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। एक तो गुरु के गुरुकुल में प्रवेश करके, अर्थात् सन्त बनकर सेवा की जा सकती है और दूसरे गृहस्थाश्रम में रह कर भी सेवा की जा सकती है। जो व्यक्ति संत बनकर गुरु की सेवा करता है वह आवश्यकतानुसार गुरु के चरण भी दबा सकता है तथा आवश्यकता के अनुसार ही वस्त्र-पात्र, भोजन, औषधि इत्यादि लाकर भी शारीरिक दृष्टि से सेवा कर सकता है तथा मानसिक दृष्टि से उनके अनुकूल-अभिप्राय के अनुसार चलता हुआ उनकी आराधना करने में तत्पर रह सकता है।

किन्तु दूसरी स्थिति गृहस्थ की है। सन्त एवं गृहस्थ की अवस्थाएँ भिन्न हैं। व्रतों की दृष्टि से साधु महाव्रती होता है जबकि गृहस्थ अणुव्रती। गृहस्थ अवस्था में उसके जिम्मे संसार की सारी क्रियाएँ होती हैं। वह अपनी स्थिति में रहता हुआ, सदा की तरह अपने परिवार की सेवा करता है तथा इसके साथ ही समाज एवं राष्ट्र की सेवा का भी यथास्थिति ध्यान रखता है। किन्तु वह गृहस्थ गुरु की सेवा हाथ-पैर दबाकर नहीं कर सकता। वह मन-

स्कार करके चरण छू सकता है, किन्तु संत के चरण दबा नहीं सकता है। यदि वह चरण दबाता है तो साधु को दोष लगता है तथा गुरु अपने गुरुस्थान से थोड़ा नीचे उतरता है। शास्त्रों का कथन है कि साधु को गृहस्थ से हाथ-पैर दबाने की वैया-वच्च नहीं कराना चाहिए। यदि वह कराता है तो अनाचार दोष लगता है।

अनाचार बावन कहे गए हैं। गृहस्थ किसी साधु के चरणों में हाथ लगा सकता है, बैठकर व्याख्यान सुन सकता है, ज्ञान-चर्चा कर सकता है, किन्तु हाथ-पैर दबाने, भोजन, पानी, वस्त्र इत्यादि लाकर देने, पात्र खरीद कर लाकर देने आदि की सेवा को गृहस्थ-सेवा नहीं कही जा सकती है।

आप सहज ही यह प्रश्न कर सकते हैं कि महाराज! ऐसा क्यों है ? यदि एक श्रद्धालु गृहस्थ अपने गुरु की, सन्त की सेवा इस प्रकार से भी करे, तो उसमें क्या हानि है ? यदि गृहस्थ ही ऐसी सेवा नहीं करेगा तो साधु का निर्वाह कैसे होगा ?

वन्धुओ! साधु का निर्वाह तो साधु-धर्म से ही होगा। शास्त्रकारों ने साधु के निर्वाह हेतु विधि बताई है। यदि इस विधि-विधान के अनुसार कोई साधु चलता है तो उसके लिए कोई कमी नहीं रहती है। किन्तु यदि सामान्य स्थिति से सेवा कराई गई तो वह सामान्य धरातल पर पहुँच जायगा। फिर साधु महाव्रती कैसे कहला सकेगा ? यदि साधु को कोई गृहस्थ भोजन लाकर देता है तो यह सोचना होता है कि वह भोजन किस स्थान से लाया जा रहा है ? वह जमीन को देखकर आ रहा है कि नहीं ? कहीं वह किसी वनस्पति या कच्चे पानी को छूकर तो नहीं आ रहा है ? तो जो बयालीस दोष भिक्षा सम्बन्धी कहे गए हैं उन्हें गृहस्थ नहीं टाल सकता है। वह तो अपनी गृहस्थ की स्थिति से चलता है। जो वस्तु जहाँ से भी खाने की मिली वही ले आता है। अतः यदि ऐसी वस्तु को साधु ग्रहण कर लेता है तो गृहस्थ की दृष्टि तो सेवा हो सकती है, किन्तु इससे साधु दोष का भागी बनता है। गृहस्थ के इस प्रकार से भोजनादि लाने में छोटे-मोटे प्राणियों की हिंसा होती है। इस प्रकार करते-कराते एवं अनुमोदन करने की दृष्टि से दोनों दोष लग जाते हैं। साधु

तो सृष्टि के समग्र जीवों को एक ही भाव से देखता है, उन सबको वह अपने परिवार के रूप में मानता है, सबके रक्षण की भावना अपने हृदय में रखता है, सबकी शान्ति की कामना करता है, तो ऐसी स्थिति में उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाकर अथवा उनकी हिंसा की चिन्ता न करके लाए गए भोजन को यदि साधु ग्रहण करता है तो उसका व्रत खंडित होता है, वह दोष का भागी बनता है।

मान लीजिए कि एक बड़ा परिवार है। उसमें प्रमुख दादा हैं तथा उनके बेटे, पोते, पड़पोते इत्यादि हैं। अब एक व्यक्ति उन दादा की सेवा करना चाहता है, उन्हें प्रसन्न करना चाहता है। वह उनके पास जाते हुए रास्ते में उनके किसी पोते-पड़पोते को पीटता है, किसी के कान काट लेता है, किसी की अंगुलियाँ काट लेता है और उनकी माला बनाकर दादा को पहिनाता है तथा उनके चरण दबाता है और कहता है कि मैं आपकी सेवा करना चाहता हूँ, मुझे सेवा का अवसर दीजिए। तो उस व्यक्ति के उस व्यवहार से दादा प्रसन्न होंगे अथवा अप्रसन्न ? उस कृत्य से उनकी सेवा होगी क्या ? इसी प्रकार एक साधु जो कि सभी जीवों को अपना परिवार समझता है, सभी जीवों के प्रति दयाभाव रखता है, उसकी सेवा के लिए यदि अनेक छोटे-मोटे जीवों को कष्ट पहुँचाते हुए उनकी हिंसा करते हुए यदि कोई गृहस्थ साधु को भोजनादि लाकर देता है तो साधु उसे कैसे ग्रहण करेगा ? कोई भी साधु ऐसा नहीं करेगा। यदि साधु ऐसा करे तो वह दोषी बन जाय।

बन्धुओ ! जो साधु पद पर पहुँचता है, गुरु पद पर पहुँचता है वह आगमधर भी होता ही है किन्तु जब वह व्रतों को लेकर चलता है तो साधु कहलाता है। वह तो ऐसा समझता है कि जगत के छोटे-मोटे सभी जीव मेरे पुत्र हैं मैं उनका पिता हूँ। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और एकेन्द्रियादि त्रस जीव ये समस्त प्राणी मेरी आत्मा के तुल्य हैं। मैं इन्हें अपने परिवार के ही तुल्य देख रहा हूँ। यदि इन्हें सताकर कोई मेरे लिए भोजन लाता है तो वह भोजन मेरे लिए तो विष तुल्य है। मैं भूखा रहना पसन्द करूँगा किन्तु ऐसा भोजन ग्रहण नहीं करूँगा। इसी दृष्टि को लेकर साधु

गृहस्थ के घर में भोजन ग्रहण करने पहुँचता है तथा यह ध्यान रखता है कि मुझे प्राणियों का रक्षण करते हुए ही भोजन ग्रहण करना है। अन्यथा भूखे ही रह जाना है।

किन्तु गृहस्थ कभी यह देखकर कि महाराज पधार रहे हैं तथा घर में अँधेरा है, बिजली का बटन दबा देता है। वह अपनी दृष्टि से विचार करके ही ऐसा करता है कि उजाले में भोजन बहराने के कार्य में सुविधा होगी। किन्तु ऐसी स्थिति में साधु तो भोजन ग्रहण नहीं करेगा क्योंकि इस परिस्थिति में उसे भोजन लेना कल्पता नहीं। बिजली जला देने से अग्निकाय के जीवों को कष्ट होता है। साधु के आहार के निमित्त अग्निकाय के जीवों को सताया जाना साधु नहीं चाहता उसके लिए तो वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अग्निकाय के जीव भी उसके परिवार के सदस्य हैं। यदि उन्हें सताकर अथवा मारकर गृहस्थ साधु को भोजन देना चाहता है तो साधु यदि तीन दिन का भूखा होगा तब भी भोजन ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकार से यदि साधु पारणे के लिए गृहस्थ के घर जाय और गृहस्थ कच्चे पानी से हाथ धोले तब भी वह भोजन नहीं लेगा, क्योंकि पानी में भी जीव हैं। यही बात वनस्पति के विषय में भी है। विज्ञान द्वारा वनस्पति की सजीवता सिद्ध हो चुकी है। अतः साधु अपने लिए किसी भी जीव को सताया जाना या उनकी हिंसा किया जाना कभी नहीं चाहेगा। वर्षा की झड़ी लगी हो और साधु भूखा ही रह जायगा, किन्तु जलकाय के जीवों की हिंसा करते हुए गोचरी लेने बाहर कदापि नहीं जायगा। ऐसा करने से उन जीवों की विराधना होगी। साधु इन सब बातों का पूरा ध्यान रखकर चलता है। साधु गृहस्थ के घर आए तथा गृहस्थ चींटी पर पाँव रखदे तो साधु के लिए वह घर असूझता हो गया। इसी प्रकार से साधु आए और कोई गर्भवती स्त्री यदि उसे आहारादि देने के लिए उठे तो भी साधु आहार ग्रहण नहीं करेगा, `क्योंकि ऐसा करने से गर्भ में रहे हुए जीव को कष्ट होता है तथा माता को भी कष्ट होता है।

अस्तु, साधु इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखता है कि उसके निमित्त से किसी भी एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव को

कष्ट न हो, क्योंकि वे सभी उसके परिवार के ही सदस्य हैं। अतः वह किसी भी गृहस्थ के घर जाकर पूरे ध्यान से इस बात की जाँच-पड़ताल कर लेता है तथा जब उसे सन्तोष हो जाता है तभी वह आहार ग्रहण करता है अन्यथा वापिस लौट जाता है। सन्तोष न हो और कोई शंका हो जाय तो साधु गृहस्थ को झूठ बोलने का त्याग कराकर उससे सच्ची बात पूछ लेता है। फिर भी यदि श्रावक झूठ बोले तो उसका दोष फिर श्रावक को ही लगता है, क्योंकि साधु ने तो सच्चे हृदय से सत्य की जानकारी के लिए प्रयत्न किया।

अभिप्राय यह है कि साधु को बयालीस दोष टालने पड़ते हैं। अतः यदि आप स्थानक में आकर साधु को भोजन देना चाहेंगे तो वह उसे ग्रहण नहीं करेगा। ऐसा भोजन अथवा वस्त्र आदि उसके लिए हितावह नहीं होते। किन्तु आप लोग तो चतुर है। आप में व्यवसाय बुद्धि है। अतः आप कभी-कभी गलियें निकालने का प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार समाज या देश की किसी बुराई को दूर करने के लिए सरकार कोई कानून बनाती है लेकिन आप उस कानून से बचने के लिए गलियें निकाल लेते हैं उसी प्रकार से साधु के प्रति अपने आदर भाव के कारण आप प्रयत्न करते है कि किसी प्रकार से साधु को भोजन मिल जाय और वह भूखा नही रहे। जैसे कि वर्षा की झड़ी लगी हो और साधु भोजन के लिए नही जा सकते हों तो आप वहां दया पाल लेते हैं और सोचते हैं कि आपके लिए जो भोजन आएगा उसमें से आप साधु को भी वहीं के वहीं बहरा देंगे। आप सोचते है कि इस प्रकार से आपका काम भी बन जायगा तथा साधु की सेवा भी हो जायगी। किन्तु साधु से यह बात छिपी नहीं रहती। वह सावधान हो जाता है तथा ऐसा भोजन ग्रहण नहीं करता।

साधुओं के प्रति आपके इस सेवा भाव में कोई बुराई नहीं है। किन्तु साधु को भी अपने महाव्रतों का पालन करना है। यदि किसी समय सहज रूप से आपके यहां पधारें और वह भोजन जो आपके लिए आया उसमें से साधु भोजन ग्रहण कर ले तब भी वह उचित नहीं होगा क्योंकि आगे चलकर फिर ऐसा ही होने लगेगा और [illegible] काय के जीवों के नष्ट होने का प्रसंग आ

जाएगा। इसके साथ ही जीवन में एक प्रकार की अनैतिकता आने लगेगी। आप यह पूछें कि गृहस्थ इस प्रकार से साधु की सेवा क्यों नहीं कर सकता तो उसका तो स्पष्ट उत्तर है कि इससे साधु के महाव्रतों में दोष लगता है। यदि थोड़ा सा भी लालच आ जाय तो धीरे-धीरे फिर वह बढ़ता चला जाता है। आपकी इस प्रकार की सेवा को स्वीकार करके आगे चलकर ऐसी स्थिति बन सकती है कि साधु यह सोचने लगे कि यह श्रावक तो मेरी बड़ी सेवा करता है, इसे यदि मैं खरी-खरी सच्ची बात कहूँगा तो यह बुरा मान जायगा, अतः इसे मैं ऐसी ही बात कहूँ जो इसे प्रिय लगे। ऐसा होने पर वह सत्य तत्व भक्त को नहीं बता पाएगा और भक्त के जीवन में अन्धकार रह जायगा।

अतः शास्त्रों में कहा गया है कि साधु को गृहस्थ से हाथ-पैर आदि दबाने, भोजन, वस्त्र, पात्र या अन्य आवश्यक सामग्री मँगवाने जैसी सेवा नहीं करवानी चाहिए। ऐसा करने से उसे दोष लगेगा और वह परतन्त्र बन जायगा।

इसी प्रश्न का दूसरा छोर यह है कि साधु गृहस्थ से इस प्रकार की सेवा न कराए यह तो ठीक, किन्तु यदि स्वयं साधु किसी गृहस्थ की ऐसी सेवा करे, अर्थात् उसके हाथ-पैर आदि दबाए तो उसमें क्या हानि है ? इसके उत्तर में शास्त्रकारों का कथन है कि साधु ऐसा भी नहीं कर सकता। क्योंकि यद्यपि साधु इसमें सेवा की दृष्टि से ही देखता है किन्तु इसके साथ ही मर्यादा भंग भी देखता है। इसी के साथ समभाव में भी फर्क पड़ता है। यदि आज वह एक की सेवा करे तो कल दूसरे की क्यों न करे ? इस प्रकार इसका अन्त कहाँ आए ? यदि वह निरन्तर ऐसा ही करता रहे तो उसकी साधना में विघ्न उपस्थित होगा। अतः साधु को तो गृहस्थ की सेवा न करके अपनी महत्वपूर्ण साधना में ही लीन रहना चाहिए। गृहस्थ की सेवा के लिए तो दूसरा व्यक्ति भी मिल जायगा, किन्तु जो आध्यात्मिक सेवा वह करता है, इसे अन्य कौन व्यक्ति करेगा ? गृहस्थों के पाप छुड़ाने की गम्भीर सेवा साधु करता है। उसे यही सेवा करनी चाहिए और अपने साधना-क्षेत्र में रमण करना चाहिए।

साधु के लिए गृहस्थ को हाथ लगाना भी वर्जित किया गया है। उसका क्या अभिप्राय है? ऐसा वर्णन इसलिए किया गया है कि भविष्य में किसी भी व्यक्ति के हृदय में किसी भी प्रकार की विकृति आए, ऐसी स्थिति को पहले से ही टालना चाहिए। सामान्य लोगों में ऐसी विकृति आने की सम्भावना रहती है। अतः ऐसी सम्भावना को पहले से ही दूर रखना चाहिए। साधु-साध्वी भी छोटे-बड़ों को वन्दना करें, किन्तु किसी भी प्रकार से हँसी-मजाक के वशीभूत होकर किसी भी अंग को हाथ नहीं लगाना चाहिए। ऐसा करना साधु के लिए भी वर्जनीय है। आपस में साधु-साधु के लिए तथा साध्वी-साध्वी के लिए भी यह वर्जनीय है। बड़े हों तो सिर पर हाथ रख दें, किन्तु अन्य अंगों पर हाथ मुखे-समाधे निष्कारण भी नहीं रखना चाहिए। गृहस्थ के शरीर पर तो किसी भी स्थिति में ही नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार का वर्जन शास्त्रकारों द्वारा साधु एवं गृहस्थ के लिए आध्यात्मिक भावना से ही किया गया है। इसके पीछे साधु जीवन को पवित्र बनाए रखने की दृष्टि है।

बालक निर्दोष होता है, निष्पाप होता है। किन्तु यदि किसी परिवार का कोई बालक साधु के पास आकर बैठे और साधु उसे प्यार से खिलाने लगे, बच्चा उनसे हिलमिल जाय, माता सोचे कि चलो अच्छा है मुझे बहुत से काम हैं, बच्चे को साधुजी रख लेंगे तो फिर तो साधु उसी चक्र में पड़ जायेंगे और अपनी सम्पूर्ण साधना को भुला बैठेंगे, गँवा बैठेंगे।

एक दृष्टान्त का स्मरण आ रहा है। इस दृष्टान्त से मेरी इस बात की पुष्टि होती है कि इसी सेवा की दृष्टि से किस प्रकार कोई साधक अपनी साधना को भुला बैठता है।

एक साधक था। वह साधना के क्षेत्र में अग्रसर हुआ। किन्तु उसे कोई गुरु नहीं मिला। गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिलता। किन्तु उस साधक ने इसकी चिन्ता नहीं की और सोचा कि वह तो अकेला ही रहेगा और साधना करेगा। उसे ठीक-अठीक का कोई ज्ञान नहीं था। वह तो अज्ञान तप करने के लिए जंगल में चला गया। हठधर्मी के वशीभूत होकर वह एक गुफा में प्रविष्ट

होकर वहीं रहने लगा। दिन में एक बार ही वह बाहर निकलता था और भोजन के स्थान पर एक वृक्ष की छाल को छीलकर उसमें से जो रस द्रवित होता उसे ही चाट लेता। बस यही उसका भोजन था।

लोगों ने यह देखा तो उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ कि देखो, यह कैसा तपस्वी है, भोजन भी नहीं करता, केवल वृक्ष के थोड़े से रस को अपनी जीभ से चाट कर ही रह जाता है और दिन-रात गुफा में रहकर साधना करता है। धीरे-धीरे लोगों का यह कुतूहल श्रद्धा एवं प्रशंसा में बदल गया। वे कहने लगे कि यह तो बड़ा योगी-महात्मा है। अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करता, मात्र तनिक सा रस चाटकर जीवन-यापन करता है। कहते हैं कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं, किन्तु यह तो अकेला ही अपनी साधना में निमग्न रहता है।

इसी प्रकार की अनेकों बातें लोगों में चलती रहीं। धीरे-धीरे बहुत से लोग उसके दर्शनों के लिए आने लगे। वह साधक जब गुफा से निकलता तो उससे आशीर्वाद प्राप्त करते। होते होते यह समाचार राजा के पास भी पहुँच गया। उसकी प्रशंसा सुनकर राजा के मन में आया कि ऐसे सिद्ध-महात्मा के दर्शन स्वयं भी करने चाहिए और अपने अन्तःपुर को भी कराने चाहिए। अस्तु उसने अपने मंत्री को आदेश दिया कि वह उस साधक को महल में बुलाकर ले आए ताकि वह तथा उसकी रानियाँ उसके दर्शन कर सकें। राजा का अभिप्राय लेकर मंत्री उस साधक के पास गया और जब वह गुफा से बाहर आया तब उससे कहा कि वह महल में चलकर राजा-रानियों को दर्शन दे।

किन्तु साधक ने इन्कार कर दिया। मंत्री निराश लौट आया। उसने जब राजा से कहा कि वह साधक तो महलों में आने के लिए तैयार नहीं है तो राजा ने स्वयं ही उसके दर्शनार्थ जाने का निश्चय किया। जब राजा मंत्री के साथ वहाँ गया और महात्मा गुफा से बाहर आया तब राजा ने उसका अभिवादन कर प्रार्थना की कि महात्मा जी ! महलों में पधारिए। किन्तु महात्मा ने पुनः यह आग्रह-अस्वीकृत कर दिया।

महात्मा को ऐसा तप करते हुए देखकर राजा तो प्रभावित हुआ किन्तु

श्री जैन-मित्र-मंडल ब्यावर को अपना प्रकाशन तभी सार्थक लगेगा जब अधिकतम संख्या में प्रबुद्ध पाठक इस संकलन से लाभान्वित होकर अपनी जीवन निर्माण कला को सत्य, शिव एवं सुन्दरता के उच्च शिखर पर आरूढ़ करें

इति शुभम्

महावीर जयन्ती सद्भावी

सम्वत् २०३१ श्री जैन-मित्र-मंडल ब्यावर

मंत्री ज्ञानी था। उसने राजा से कहा—"राजन ! यह महात्मा अज्ञान-तप कर रहा है। इसे तो अभी यह भी ज्ञान नहीं है कि वनस्पति में जीव है कि नहीं। अतः मुझे तो सन्देह है कि इसकी साधना आगे बढ़ सकेगी। सिद्धान्त की दृष्टि से यह कुछ भी नहीं जानता।"

किन्तु राजा को मंत्री की बात से सन्तोष नहीं हुआ। उसने कहा—"मंत्री, तुम कुछ नहीं जानते। यह सच्चा महात्मा है।"

यह सुनकर मंत्री ने कहा—"महाराज ! विज्ञान के बिना साधुजीवन पनप नहीं सकता। मैं आपसे पुनः कहता हूँ कि इसकी साधना में दोष है। इसकी साधना आगे नहीं बढ़ेगी।"

मंत्री ने जब दृढ़ विश्वास के साथ यह बात कही तो राजा ने कहा—"क्या तुम यह सिद्ध करके बता सकते हो ?"

मंत्री ने चुनौती स्वीकार करली और कहा—"हाँ, राजन् ! मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ, किन्तु इसके लिए मुझे कुछ समय तथा कुछ धन की भी आवश्यकता होगी।"

राजा ने यह स्वीकार कर लिया।

अब मंत्री यह विचार करने लगा कि किस उपाय से उस महात्मा को राजा के पास लाया जाय। अन्त में उसे एक उपाय सूझ ही गया। उस नगर में एक वेश्या रहती थी। वह बड़ी रूपवती तथा चतुर थी। मन्त्री ने उसके पास जाकर सारी बात उसे बताई और कहा—

"वह महात्मा दिन में केवल एक ही बार अपनी गुफा से बाहर आता है तथा वृक्ष की छाल खाकर—वृक्ष का रस चाट कर वापस गुफा में चला जाता है। अब किसी न किसी प्रकार उसे राजा के पास नगर में ले आना है। बोलो, क्या तुम ऐसा कर सकती हो ?"

वेश्या ने उत्तर दिया—"मन्त्रिवर ! यह तो बहुत सरल काम है। आप देखते जाइये, मैं चुटकियों में यह काम कर दूंगी।"

उसके बाद वह वेश्या भी अन्य लोगों के साथ उस महात्मा की भक्ति करने जाने लगी। उसने महात्मा की सारी दिनचर्या का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। फिर एक दिन उसने चुपचाप पतला हलुवा बनाया और उस वृक्ष की छाल हटाकर वह हलुवा वहाँ चुपड़ दिया। महात्मा जब वृक्ष का रस चाटने के लिए आया, वेश्या दूर छिपी हुई सारा दृश्य देखती रही। उसने देखा कि महात्मा ने वृक्ष की छाल हटाई, रस चाटा और वापिस गुफा में चला गया।

किन्तु उस महात्मा को उस दिन वृक्ष के रस में कुछ विशेष ही आनन्द आया। अधिक मधुरता उसे उस रस में मिली। अतः उसका मन डोला और वह थोड़ी देर के बाद ही रसपान करने पुनः गुफा से बाहर निकल आया। इस बीच वेश्या ने उस स्थान पर पतले हलवे का लेप फिर से कर दिया था। इस प्रकार महात्मा का मन अब साधना से हटने लगा और वह हलवे में डूबने लगा। पहले वह चौबीस घंटों में केवल एक ही बार रस चाटने आता था, अब तो बार-बार आने लगा और सोचने लगा कि यह इतना मधुर रस आता कहाँ से है ?

अवसर देखकर वेश्या प्रकट हुई और महात्मा से बोली—"महात्मन् ! यदि आप चाहें तो मैं आपको यह मधुर रस भरपेट प्रदान कर सकती हूँ। समीप ही मेरी कुटिया है, आप मेरी कुटिया में पधारिए।"

महात्मा ने उत्तर दिया—"मैं तुम्हारी कुटिया में नहीं आ सकता।"

तब वेश्या ने कहा—'अच्छा, मैं आपको वह रस यहीं लाकर देती हूँ।"

इस प्रकार धीरे-धीरे महात्मा जी साधना को शिथिल करके वेश्या के रस में निमग्न होने लगे। शनैः शनैः वे वेश्या की कुटिया में भी आने-जाने लगे और परिणाम यह हुआ कि वे कुछ ही समय में उस वेश्या के पुत्र के पिता भी बन गए। अब वे अपनी सन्तान तथा वेश्या के मोह में पूर्णतया फँस चुके थे और उनकी साधना गायब हो चुकी थी। वेश्या जब अपने काम से शहर जाती तब वे उस बालक को खिलाया करते।

एक दिन वेश्या ने महात्मा से कहा कि अब वह नगर में जाकर रहेगी। यह सुनकर वे बोले—"यदि तुम चली जाओगी तो फिर मैं कैसे रहूँगा? मैं तो तुम्हारे बिना नहीं रह सकता।"

वेश्या ने कहा—"आप भी मेरे साथ नगर में चलिए।"

महात्मा ने स्वीकार कर लिया। वेश्या ने मंत्री को समाचार भिजवा दिया कि वह महात्मा को लेकर आ रही है। महात्माजी बच्चे को गोद में उठाए नौकर के समान जब नगर में पहुँचे तब वह दृश्य दर्शनीय ही था। यह सब देखकर राजा ने मंत्री से कहा—"मंत्रिवर! क्या ऐसा होना भी सम्भव है? इस महात्मा की साधना का क्या हुआ?"

मंत्री ने राजा को बताया—"राजन्! सच्चे गुरु के अभाव में सच्ची एवं शुद्ध साधना नहीं हो सकती। यही कारण है कि यह महात्मा आज अपनी साधना से पतित हो गया है। शुद्ध साधना के अभाव में मनुष्य आत्मिक शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता।"

अस्तु, आचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज कहा करते थे कि "जितना बिगाड़ा नहीं रांड ने, उतना बिगाड़ा सांड ने।" अतः शास्त्रकारों ने कहा है कि गृहस्थ से सेवा न लेना न देना। क्योंकि ऐसा करने पर साधु कभी न कभी चक्कर में आ ही जाता है और अपनी साधना से गिर जाता है। ऐसा करने से उसका एक स्थान पर जमना हो जाता है और फिर वह श्रावक को दुःख देने में लग जाता है स्वार्थपरता में डूब जाता है। साधु सोचने लगता है कि यहाँ अच्छा खाना-पीना मिलता है, अतः यहाँ से क्यों जाना? इस प्रकार वह साधना-पथ से गिर जाता है और तीर्थंकरों की परम्परा से गिराव हो जाता है। साधु तो अपने जीवन की हिंसा करता ही है परन्तु श्रावक, जो धर्म कमाने आते हैं, वे भी धर्म के स्थान पर पाप कमा लेते हैं—और अपनी आत्मा को भारी बना लेते हैं। इस प्रकार से उनके द्वारा अनन्त तीर्थंकरों की आशातना हो जाती है। अतः तीर्थंकरों की सेवा जिस रूप में बताई गई है, उसी रूप से की जानी चाहिए। साधु की सेवा के लिए जो

करना है, तो भक्तपान विच्छेद होता है, इसमें हिंसा लगती है तथा यदि कोई दूसरा व्यक्ति सेवा करने वाला नहीं है तो दोष लगता है। अतः बड़ों की सेवा तो करनी ही चाहिए, साथ ही छोटों के प्रति भी हमदर्दी होनी चाहिए। किसी भी व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अतः सेवा धर्म की ओर अवश्य अग्रसर होना चाहिए। जिन व्यक्तियों में सरलता तथा विनीतता होती है वे ही व्यक्ति इस क्षेत्र में आकर अपना नाम उज्ज्वल कर सकते हैं तथा आत्मकल्याण की साधना कर सकते हैं।

बन्धुओ ! सेवा धर्म परम गहन है। योगियों के लिए भी यह अगम्य कहा गया है। त्रिखंडाधिपति वासुदेव महाराज जिनके पास तीन खंड की सत्ता और सम्पत्ति हो, शंख, चक्र, कौस्तुभमणि, सारंग धनुष जैसे अनेक दिव्य शस्त्र हों, ऐसे दिव्य शक्तिशाली पुरुषों को क्या कभी अपने से छोटों के प्रति हमदर्दी हो सकती है ? क्या वे अपने से छोटों की सेवा कर सकते हैं ?

आप जरा अपनी स्थिति पर गहन विचार कर लीजिए। तीन भुवन की सत्ता तो दूर, यदि आपको ब्यावर का राज्य भी मिल जाय तो आप क्या करेंगे ? ऐसी स्थिति में अपने से छोटों की सेवा तो दूर की बात है, शायद अपने माता पिता, वृद्धजन गुरुजन आदि को भी भूल जायेंगे या उन्हें भी ठोकर मारकर दूर हटा देंगे। और ब्यावर का राज्य क्या, चन्द चाँदी के टुकड़े मिल जाने पर भी आप तो अभिमान में ऐसे गर्क हो जाते हैं कि आपको आकाश छोटा दिखाई देने लगता है, आप किसी की भी चिन्ता नहीं करते। तो ऐसे व्यक्ति कभी भी सामाजिक अथवा धार्मिक दृष्टि से अपने जीवन को उज्ज्वल बना सकते ? धन अथवा सत्ता कितनी भी प्राप्त हो जाय, किन्तु मन में अहंकार नहीं आने देना चाहिए, सेवा धर्म नहीं बिसराना चाहिए।

[illegible] त्रिखंडाधिपति [illegible] था। उनका ऐश्वर्य एवं शक्ति [illegible] आदर [illegible] किन्तु उनमें सेवकजनों की [illegible] इसी कारण था कि उनके सेवक [illegible] इन्हीं कारणों से हम [illegible]

जिससे कि आपके जीवन में भी एक मोड़ आ सके, आप भी यह जान सकें कि शान्ति प्राप्त करने का सही मार्ग कोनसा है।

वे महापुरुष इतनी सम्पन्न स्थिति में रहते हुए भी जनहितकारी कार्यों को कभी नहीं भूलते थे। अपने सेवकों को भी वे अपना मित्र, अपना आत्मीय मानते थे। आज हमारी क्या स्थिति है ? हम अपने सेवकों के साथ कैसा वर्ताव करते हैं ? हम उनके साथ तिरस्कार के साथ पेश आते हैं। चूंकि वे आज कमजोर हैं, दीन हैं, अतः वे आपके प्रत्येक प्रकार के दुर्व्यहार को चुपचाप सहन कर रहे हैं। किन्तु यदि हमने अपने प्रेमपूर्ण-व्यवहार से उनके हृदय को नहीं जीता तो एक दिन वे विद्रोह की स्थिति में आ सकते हैं और आपकी सत्ता को छीन भी सकते हैं। आपके लिए तन तोड़कर कार्य करते हैं, तो आपका भी कर्तव्य है कि आप उन्हें अपना मित्र समझें और उनके साथ नौकर जैसा वर्ताव न करें। यदि आप इस नीति से चलेंगे तो घर में चैन और शान्ति बनी रहेगी।

हमें बड़े-बड़े नगरों में जाने का प्रसंग आता है। वहाँ भिक्षा के लिए जाने का भी प्रसंग आता है। एक समय एक करोड़पति के घर में जाने का प्रसंग आया। साधु के लिए तो कभी झोंपड़ी तथा कभी महल सभी जगह जाने का प्रसंग आता ही है। तो वहाँ सेठानी ने पतली-पतली रोटियाँ बहराई और एक तरफ जो मोटी-मोटी और रूखी बाजरे की रोटियाँ पड़ी थीं उनके लिए बताया कि ये तो नौकरों के लिए बनी हैं। तो बन्धुओ ! यह उचित नहीं है। अपने सेवकों के साथ इस प्रकार भेद भाव का व्यवहार यदि आप लोग रखेंगे तो किसी दिन सौ सुनार तथा एक लुहार की भी हो सकती है।

मैं आपको कृष्ण महाराज तथा रुक्मिणी का चरित्र सुना रहा हूँ। उनके चरित्र से हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। रुक्मिणी का चरित्र जो आगे विस्तार से सुना जायगा, वह माताओं के लिए कितना प्रेरणादायी है ! इस प्रकार वह भाइयों के लिए भी उपयोगी है। यदि हम इन लोगों के समान अपनी बुद्धि ठीक रखें तथा अपने सेवकों के साथ सद्व्यवहार रखें तो वे भी हमें अपना मानेंगे तथा कोई बेईमानी करने की भावना उनके हृदय में उदित

नहीं होगी। हम लोगों का दुर्व्यवहार ही इन गरीब लोगों को बेईमानी तथा चोरियां करने के लिए प्रेरित करता है।

आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज फर्माया करते थे कि एक नौकर एक सेठ के यहाँ नौकरी करने के लिए गया। सेठ ने उससे पूछा कि वह कितनी तनख्वाह लेगा। नौकर ने सोचा कि यदि अधिक तनख्वाह मांगूंगा तो ये मुझे नौकर नहीं रखेंगे। अतः उसने कहा कि वह ढाई सौ रुपये लेगा। तब सेठ ने पूछा कि तुम्हारे घर का खर्च कितना है? नौकर ने उत्तर दिया कि मेरे घर का खर्च साढ़े तीन सौ का है। परिवार में सदस्य अधिक हैं। तब सेठ ने पूछा कि जब तुम्हारे घर का खर्च साढ़े तीन सौ का है, तब तुम ढाई सौ में कैसे काम चलाओगे? इसका अर्थ है कि तुम चोरी करके काम चलाने की बात सोच रहे थे। किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। मैं तुम्हें साढ़े तीन सौ रुपये ही दूँगा। बोलो अब तो तुम ईमानदारी से काम करोगे न?

नौकर सेठ की इस उदारता से बहुत प्रभावित हुआ। वह सदा-सदा के लिए सेठ का भक्त हो गया। उसने उत्तर दिया—"सेठ साहब! आप बड़े दयालु हैं। आपने मेरे मन की बात जान ली। अब आप विश्वास कीजिए कि मैं सदैव ईमानदारी से आपकी सेवा करूँगा तथा कभी आपको कोई शिकायत नहीं होने दूँगा।"

अँगूठी निकाल रहा था तब राजा की नींद खुल चुकी थी, किन्तु वह चुपचाप आँखें बन्द किए पड़ा रहा मानो गहरी नींद में सो रहा हो। सेवक अँगूठी लेकर चला गया, राजा ने उसे कुछ नहीं कहा। अब राजा मन ही मन विचार करने लगा कि आखिर उसके सेवक को ऐसा कार्य क्यों करना पड़ा? क्या वह किसी विशेष कष्ट में है? अवश्य ऐसा ही होगा, मैंने उसके घर की तरफ कभी ध्यान नहीं दिया, इसीलिए उसे आज चोरी करनी पड़ी होगी। यह सोचकर राजा ने गुप्तचरों द्वारा पता लगवाया तो उसे मालूम हुआ कि उसकी पत्नी गर्भवती है तथा जापे का आवश्यक सामान उस बेचारे गरीब सेवक के पास नहीं है। यह ज्ञात करके राजा को मन ही मन बड़ा दुःख हुआ।

कुछ समय बाद वह सेवक राजा की अँगूठी वापिस लाया और सोते समय राजा के हाथ में वापस पहिना दी। इस बार राजा ने सेवक से पूछा कि वह क्या कर रहा है? तब सेवक ने सच-सच उत्तर दिया—"दीनानाथ! मैं चोरी नहीं कर रहा हूँ। एक दिन आपकी अँगुली में से निकाल कर मैं यह अँगूठी ले गया था, आज इसे वापिस पहिना रहा हूँ। वास्तविक बात यह है कि कुछ समय के लिए इसे गिरवी रखकर मैंने अपनी आवश्यकता की पूर्ति करली। अब मैं इसे लौटा रहा हूँ। उस समय मैंने आपको मालूम नहीं होने दिया। यदि आपको मालूम हो जाता तो मेरी बड़ी दुर्दशा होती, मैं बरबाद हो जाता।"

यह सुनकर राजा मुसकराया और बोला—"भाई! मुझे उसी दिन पता लग गया था। किन्तु इस कार्य के लिए दोषी तू नहीं, मैं ही हूँ। तू मेरे लिए सर्वस्व अर्पण करके चल रहा है, और मैंने कभी तेरे घर की स्थिति की ओर ध्यान ही नहीं दिया, तो यह तो मेरी ही भूल है, तू चिन्ता न कर।"

उपरोक्त दृष्टान्त से हमें अपने जीवन की तुलना करनी चाहिए और देखना चाहिए कि वे लोग कैसे थे और हम कैसे हैं। यदि जीवन का निर्माण करने के लिए प्रथम सोपान पर पहुँचना चाहते हैं तो इस प्रकार के व्यवहार को अपनाइये। अन्यथा अभिमान में डूबकर अन्याय के सिवाय और क्या करना सम्भव हो सकेगा?

इंग्लैंड में घटित एक घटना याद आ रही है। चुनाव का समय था। मतदान के चुनाव की बात थी। दो उम्मीदवार थे। एक गरीब आदमी का वोट लेने के लिए एक उम्मीदवार ने उसे बीस रुपये दिए। उसने उसे वोट देना स्वीकार कर लिया। तब दूसरा उम्मीदवार भी पहुँचा और सवाल में उसने अधिक रुपये दिए। गरीब आदमी ने उस दूसरे उम्मीदवार को ही वोट दे दिया और वह चुन लिया गया। अब जब पहिले उम्मीदवार को मालूम हुआ कि उस व्यक्ति ने उसे वोट नहीं दिया है तो उसे क्रोध आया और बदला लेने का विचार करने लगा। उसने बीस रुपये का चक्रवर्ती ब्याज लगाकर उस बेचारे गरीब आदमी पर सौ रुपये का दावा कर दिया। कुड़की लेकर वह उसके घर गया और सारा सामान कुर्क करा लिया। यहाँ तक कि उसकी पत्नी और बच्चों के लिए दो मुट्ठी धान भी उसने नहीं छोड़ा। गरीब आदमी का रोना और गिड़गिड़ाना सब व्यर्थ गया।

भूतल पर रहने वाले प्रत्येक प्राणी के साथ हमें प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। मनुष्य की वाणी में अमृत भी है और विप भी। यदि हम किसी के साथ प्रेम से बोलते हैं तो वह हमारी वाणी अमृतमयी बन जाती है। तथा यदि हम कटुवचन कहते हैं—तो वही वाणी विपमय भी बन जाती है। और जब इस वाणी से अमृत बरसता है तो शत्रु भी मित्र एवं दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं।

स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज फर्माते थे कि "चाकर को टाकर कहे…………।"

घर में बूढ़ी दासी हो, उसे यदि बाई अथवा माँजी कहें तो वह प्रसन्न हो जाती है। इसी प्रकार चाकर को यदि ठाकुर कह दोगे तो वह अपना सर्वस्व आप पर न्यौछावर करने के लिए प्रस्तुत रहेगा। मधुर व्यवहार करना एक कला है। यह कला हम सबको सीखनी चाहिए। वे त्रिखंडाधिपति वासुदेव ये कलाएँ जानते थे। इसीलिए वे सबसे मित्रता का, सज्जनता का व्यवहार करते थे। वे शरणागत के आधार थे। साधु-सन्तों की सेवा तथा आदर करते थे। जनहित के कार्य करने के लिए वे सदैव प्रस्तुत रहते थे। जनहितकारी कार्य करने के कारण वे चन्द्रतुल्य कहलाते थे। चन्द्रमा जिस प्रकार सभी को शीतलता एवं शान्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार वे सभी लोगों के लिए आनन्द एवं सुख-शान्ति प्रदान करने वाले थे। वे बड़े से बड़े थे, किन्तु छोटे से छोटे के साथ भी ऐसा व्यवहार करते थे जैसे कि वे छोटे लोग उनके परम आत्मीय हों। ऐसा व्यवहार करने के कारण वे स्वयं छोटे नहीं बने, बल्कि और भी ऊँचे उठ गए तथा आज तक हम उनका गुणगान करते हैं।

अस्तु, बन्धुओ! जीवन में शान्ति-सोपान को पाना है, उस सोपान पर चढ़कर मानव जीवन की चरम सार्थकता प्राप्त करनी है तो इस स्थिति का विचार करके चलिए, अवश्य ही आपके जीवन में शान्ति की सुधा की वर्षा होगी।

एक निवेदन

सतत प्रवहमान ज्ञान की निर्मल धारा में संयमी जीवन के श्रेष्ठ अनुभवों का संगम होने पर, जब सत्प्रेरक प्रवचन प्रस्फुटित होते हैं तब उनमें जीवन को समुन्नत, यशस्वी, त्यागी एवं विरागी बनाने की विलक्षण चेतना होती है। परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० के प्रवचन ऐसी आत्मिक शक्ति से उद्भूत हैं जो श्रोताओं के अन्तरम को संस्पर्शित कर अतीतकालीन गौरव की झलक दिखाते हैं, वर्तमान का तथ्य परक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं और साथ ही भविष्य की आत्मिक प्रगति के लिए पथ प्रशस्त बनाते हैं। बाल-ब्रह्मचारी आचार्य श्री की वाणी में ऐसा ही अनुपम तेज और ओज समाहित है।

ब्यावर चातुर्मास-प्रवचनों का सम्पादन करने का मुझे जो सौभाग्य एवं गौरव मिला है उसका मुझे हर्ष है। श्रोताओं के हृदय को सुप्रभावित व स्पंदित करने के लिए प्रवचन के भावों एवं मर्मों का निर्वहन करते हुए अक्षुण्ण बनाये रखना तलवार की धार पर दौड़ना है। इस प्रवचन संग्रह को पढ़ते समय जो दोष, त्रुटियां एवं असंगतियां पाठकों को अनुभूत हों, वे सब संपादक की मानकर उसके लिए वे संपादक को हृदय से क्षमा करें।

श्री जैन मित्र मण्डल, ब्यावर की कार्य समिति के सदस्यों ने इन संकलन को व्यवस्थित रूप देने में जो सत्प्रेरणाएँ प्रदान की हैं वे सदा चिरस्मरणीय रहेंगी।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि शाश्वत शान्ति एवं आत्मिकशान्ति की गहनता व व्यापकता को समझने एवं उसमें अनुभूति को क्रियाशील दृष्टि से जागृत करने में इस प्रवचन संग्रह से पाठक अवश्य उद्बोधित होंगे।

ब्यावर
महावीर जयन्ती
सम्वत् २०३१

सद्भावी
ज्ञान भारिल्ल
सम्पादक

५ | सम्यक्त्व का सुधाकलश

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्ति जिन मुझ एक विनती ………… …।"

जान लेने के पश्चात् आप स्वयं में स्थित उस अगाध शान्ति को, अर्थात् अपने सहज स्वरूप को प्रकट करके अनन्त शान्ति सम्पन्न बन गए हैं। किन्तु मैं अब तक वैसा नहीं कर सका। अब यह दुर्लभ मानव-जीवन मुझे प्राप्त हुआ है। इस जीवन में मैं कुछ विशेष उन्नति करना चाहता हूँ। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उस शान्ति के खजाने को अपने भीतर खोज लूं। अतः हे प्रभु! मुझे ऐसी शक्ति दीजिए, ऐसी दृष्टि दीजिए तथा ऐसा पुरुषार्थ दीजिए।"

मनुष्य इन भावों की अभिव्यक्ति करते हुए अपनी आध्यात्मिक शक्ति को विकसित करने का प्रयत्न करता है। किन्तु प्रत्येक ज्ञान के क्षेत्र में विकास करने के लिए उसका पूर्ण परिज्ञान करने हेतु, प्रारम्भ में किसी विचक्षण व्यक्ति की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में विकास करने, शान्ति की मंजिल तक पहुँचने के लिए भी किसी ऐसे ही विचक्षण व्यक्ति की, सुयोग्य गुरु की आवश्यकता होती है। वह विचक्षण व्यक्ति भी शान्ति मार्ग की ओर बढ़ने वाला होना चाहिए। जिस व्यक्ति को ऐसा सुयोग्य, विचक्षण-व्यक्ति गुरु के रूप में मिल जाय, वह उसके निमित्त से अपने जीवन में शान्ति का प्रसार कर सकता है।

प्रस्तुत कविता में संकेत दिया गया है कि—"**आगमधर**..........।" इस पंक्ति में इस बात पर तो बल दिया ही गया है कि उन्नति के लिए गुरु की आवश्यकता है, किन्तु साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि गुरु कैसा हो।

तस्सेस मग्गो गुरु विद्ध सेवा...........

शास्त्र की इस पंक्ति में भी शास्त्रकार द्वारा यही निर्देश दिया गया है कि गुरु कैसा हो—वह विचक्षण व्यक्ति कैसा हो, जिसके सहारे मनुष्य शान्ति की चरम मंजिल पर पहुँच सके।

भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में कहा है कि यदि तुम शान्ति के मार्ग को प्राप्त करना चाहते हो तो गुरु और वृद्ध पुरुष की सेवा करो। किन्तु बाल-जीवों से दूर रहो। बाल-जीवों से तात्पर्य यहाँ

बालकों से नहीं है। बालक तो शरीर की दृष्टि से बाल हैं ही। किन्तु ऐसे व्यक्ति जो कि शरीर की दृष्टि से चाहे जवान हों चाहे वृद्ध हों, वे भी बाल-स्वभाव के हो सकते हैं। अर्थात् उनमें भी बालपना पाया जा सकता है। बालपने से यहां तात्पर्य है—अज्ञान। अस्तु जिन व्यक्तियों का मन अज्ञान के अन्धकार से ग्रसित है, वे चाहे बाल, युवा तथा वृद्धावस्था—इन तीनों अव-स्थाओं में से किसी भी अवस्था में हों, बाल ही कहे जायेंगे। शान्ति के मार्ग की खोज करने की अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति को भगवान के संकेत के अनुसार ऐसे ही बालजीवों से बचकर चलना है।

ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो कि अज्ञान-अन्धकार से ग्रसित है, मोह और माया जिसके जीवन में रमण कर रहे हैं, जिसके जीवन में छल-कपट आंख-मिचौनी खेल रहे हैं, जो रात-दिन पाप कर्म में लवलीन रहता है, जो अपनी स्वार्थ सिद्धि में दत्तचित्त रहता है—बाल-अज्ञानी कहलाता है।

ऐसे बाल-अज्ञानी व्यक्ति यशलिप्सा के पीछे भागते-फिरते हैं और अपने पीछे जनता को भी घसीट ले जाते हैं।

ऐसा बाल-अज्ञानी पुरुष अपनी दृष्टि से तत्व का निरूपण करता है। अनेकान्त के नाम की माला जपता है। स्याद्वाद का प्रतिपादन भी करता है। किन्तु ऊपर ही ऊपर से ऐसा करता हुआ वह एकान्त की धारा में बहता है।

जो भी व्यक्ति अपने वास्तविक आत्मिक स्वरूप को नहीं जानता—वह बाल है।

जड़ तथा चेतन का विज्ञान जिसके जीवन में नहीं है, वह अज्ञानी है। जिस पुरुष को आत्मा और परमात्मा का विवेक नहीं है, जिसके जीवन का समस्त पुरुषार्थ, सारी शक्ति मात्र शारीरिक एवं भौतिक पदार्थों के संचय में ही नष्ट हो रही है, नाशवान पदार्थों को ही जो सब कुछ मानकर चल रहा है—वह अज्ञानी है, बाल है।

ऐसा व्यक्ति चाहे कितना भी पढ़ा-लिखा हो, चाहे पंडिताई के कितने भी

प्रमाण एवं उपाधियाँ उसने एकत्र कर रखी हों, और वह आत्मा का प्रतिपादन चाहे कितनी भी चतुराई से कर देता हो, किन्तु यदि उसके अन्तःकरण में वह शुभ दृष्टि नहीं उतरी है, तो वह पढ़ा-लिखा मूर्ख ही है और बाल है।

इसीलिए शास्त्र में वचन है और प्रभु ने संकेत दिया है कि बालजीवों से दूर रहो और पंडित जनों के समीप रहो।

जहाँ तक व्याख्या का प्रश्न है, बाल तथा पंडित की व्याख्या बहुत विशद है। हम उसे थोड़े-थोड़े लक्षणों से ही समझने की कोशिश करें। "आगमधर समकिती"—यहाँ समकिती का लक्षण आया है। प्रश्न स्वाभाविक ही है कि समकिती कौन और असमकिती कौन ? किसे तो हम बाल समझें और किसे पंडित ?

समकित जब व्यक्ति के जीवन में प्रवेश कर लेता है तो उसका जीवन सामान्य मनुष्यों के जीवन से विशिष्ट बन जाता है और ऊँचा उठ जाता है। ऐसा व्यक्ति कहीं भी रहे, उसकी विशेषता की चमक अपने आसपास प्रकाश फैलाने लगती है। अन्धकार और अज्ञान उसके जीवन से दूर होते चले जाते हैं। समकित उनकी आत्मा को प्रकाशित, आनन्दित एवं शान्तिमय बना देता है। मैं ऐसे ही महापुरुषों का चरित्र आपके समक्ष रखने का प्रयास कर रहा हूँ।

मुझे डाक्टरों ने आराम करने की सलाह दी है। ठीक है, आराम या विश्राम भी लेना है। किन्तु मेरी दृष्टि से वह विश्राम हमें अपने विकारों से लेना चाहिए। केवल लेटकर तो शरीर को भले ही विश्राम की अनुभूति कराई जा सकती है, किन्तु हमारी आत्मा को तो वास्तविक विश्राम सच्ची शान्ति तभी प्राप्ति हो सकती है जबकि हम क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा इत्यादि विकारों से विश्राम लें। इन विकारों के जाल से मुक्त होकर यदि हम थोड़ा भी अपने आत्म स्वरूप में लीन हों तो सचमुच हमें विश्रान्ति मिलेगी। अतः हमें इस प्रकार की विश्रान्ति लेना तो अवश्य सीखना चाहिए। जहाँ तक शारीरिक रूप से आराम लेने का प्रश्न है भक्ति के अतिरेक से ऐसा सुझाव

दिया जाता है, किन्तु मैं समझता हूँ कि ऐसी कोई स्थिति नहीं है कि मैं व्याख्यान से भी छुट्टी ले लूं। अस्तु, सम्यक्त्व और उसकी पहिचान की चर्चा को हम चालू रखें और यह न भूलें कि "अवन्ध्यं दिवसं कुर्यात्"—अर्थात् दिवस को बेकार नहीं जाने देना चाहिए।

बधुओ ! सम्यक्त्व की पहिचान बताने के लिए अनेक प्रकार की कल्पनाएं मस्तिष्क में चल रही हैं, किन्तु समयाभाव के कारण विस्तार में जाना सम्भव नहीं है। संक्षेप में ही उसका विवेचन करना होगा। जिस व्यक्ति के जीवन में समकित का वस्तुतः प्रवेश होता है, तथा जो उसे दृढ़ता से धारण करता है, उसका जीवन जग-हितकारी बने बिना नहीं रह सकता। त्रिखंडाधिपति वासुदेव महाराज दृढ़ व्रतधारी थे। उनका व्रत जगत् के हित के लिए था न कि स्वयं की स्वार्थ वृत्ति के लिए। उनके जीवन का सम्पूर्ण विकास उसी दृष्टि से हुआ था। उन्होंने जीवन में जितने भी कार्य किए सब इसी दृष्टि से किए। उन्हें यदि संग्राम भी करने पड़े तो वे भी संहार के उद्देश्य से नहीं, अपितु जनता के जीवन में से दुर्नीति निकालने के लिए ही किए गए। उन्होंने जनता को सद्मार्ग पर आगे बढ़ाया तथा पुरुषार्थी बनने की प्रेरणा दी। वे संग्रामिक रथ को लेकर कार्य कर रहे थे। इसके पीछे एक बड़ी शिक्षा थी। 'परनारी के वक्ष' की दृष्टि से उनका जीवन बहुत ऊँचा उठता है। उन्होंने परनारी को वक्ष नहीं दिया, अर्थात् परनारी को सदा माता और बहिन की दृष्टि से ही देखा।

समकित दृष्टि वाला पुरुष सर्वप्रथम परनारी का त्याग करता है और अपने जीवन को मर्यादित रखता है। जो ऐसा करता है वही दृढ़व्रती कहलाने का अधिकारी होता है। ऐसी निष्ठा जिसके जीवन में आ जाती है वह प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करता है। आज मानव इस दृष्टि को भुलाता चला जा रहा है। अतः समस्त मानवता रसातल की ओर चली जाय ऐसा संकट उत्पन्न हो रहा है। रावण ने भूल की, और वह परनारी—सीता—पर ललचा गया। इसका जो भयानक परिणाम उसे भोगना पड़ा वह आपको विदित ही है। वह बलशाली था, त्रिखंड का स्वामी था, किन्तु परनारी का मोह उसे

ले डूबा। अतः मनुष्य को यह बात विशेष ध्यान में रखनी चाहिए और परनारी को सदा माता-बहिन के रूप में देखना चाहिए। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता वह बेलगाम का घोड़ा बन जाता है और सर्वनाश की ओर बढ़ता है। इसके विपरीत संयम से चलने वाला व्यक्ति घर में भी ब्रह्म की आराधना करता है और आत्मा-परमात्मा के ओजस्वी तेज रूप उस ब्रह्म को प्राप्त करके अपना उत्थान करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्रण लेकर इस मार्ग पर चलना चाहिए।

श्रीकृष्ण के अनेक रानियाँ अवश्य थीं। किन्तु वे सब भोग की दृष्टि से नहीं थीं। वे शक्तिशाली थे, और शक्तिशाली पुरुष से सम्बन्ध बनाना प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। इसलिए अनेक छोटे-बड़े राजा उनसे अपनी कन्याएँ स्वीकार करने का आग्रह करते थे। कुछ लोग उनकी शरण में आते थे। तो इस प्रकार वे लोकहित की दृष्टि से ही चलते थे और संग्राम भूमि में भी नीति-अनीति का पूरा विचार रखते थे। नीति के साथ संग्राम करते हुए वे रण से कभी पीठ नहीं दिखाते थे।

आज हमारी क्या स्थिति है? आज हमारे जीवन में कितनी नैतिकता है? अनीति से हम कितना संग्राम करते हैं? आज तो यह स्थिति है कि जहाँ तनिक सी भी स्वार्थसिद्धि होती दिखाई देती है वहाँ तुरन्त घुस पड़ते हैं और जहाँ स्वार्थ सिद्ध न होता हो वहाँ से पीठ दिखाकर भाग खड़े होते हैं। जिस व्यक्ति में ब्रह्मतेज नहीं, और जो दृढ़व्रतधारी नहीं, वह कायर है। ऐसा व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में कोई वीरतापूर्ण कार्य नहीं कर सकता, चाहे वह राष्ट्रीय क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो, अथवा धार्मिक क्षेत्र।

एक डॉक्टर थे। उनका नाम था डॉक्टर थूल। वे अपने क्षेत्र में तो कार्य करते ही थे, उसके अतिरिक्त छात्रों को शिक्षा देने का कार्य भी करते थे। एक दिन एक छात्र ने पूछा—"डॉक्टर साहब! मैं इस संसार में रहता हुआ सुखी कैसे रह सकता हूँ? कृपया मुझे यह मन्त्र बताइये।" डॉ० थूल ने कहा—"यदि तुम सुखी रहना चाहते हो, तो ब्रह्मचर्य का पालन करो।" यह सुनकर छात्र ने कहा—"मेरे लिए आजीवन ब्रह्मचर्य से रहना तो बहुत

कठिन है। तलवार की धार पर तो एक बार चला भी जा सकता है, किन्तु यह व्रत तो लगभग असम्भव है।" डॉक्टर ने कहा—"यदि आजीवन ब्रह्मचारी नहीं रह सकते तो जीवन में एक बार के अतिरिक्त ही ब्रह्मचारी रहो।" छात्र ने कहा कि यह भी कठिन है। तब डॉक्टर ने कहा कि यदि यह भी कठिन है तो वर्ष में एक बार के अतिरिक्त ब्रह्मचारी रहो। छात्र ने यह भी कठिन बताया तो डॉक्टर ने कहा महीने में एक बार के अतिरिक्त ही ब्रह्मचारी रहना। छात्र को इसमें भी कठिनाई प्रतीत हुई तो डॉक्टर ने कहा कि महीने में दो बार के अतिरिक्त ही ब्रह्मचारी रहो। किन्तु छात्र के लिए तो यह भी कठिन था। तब डॉक्टर ने कहा कि यदि यह भी तुम्हारे लिए कठिन है तब तो जब तुम जिस किसी के भी साथ रहो कफन की सामग्री अपने साथ रखना।

इस प्रसंग को आपके सामने रखने का यही अभिप्राय है कि जीवन में संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि आप मर्यादित जीवन व्यतीत करेंगे तो सुखी रह सकेंगे, अन्यथा असर्यादित जीवन कभी सफल और सुखी नहीं बन सकेगा। ऐसे मर्यादित जीवन के लिए समकिती गुरु की आवश्यकता है। उनके साथ रहकर आपको दृढ़व्रतधारी बनना चाहिए। त्रिखंडाधिपति वासुदेव के जीवन से हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आज यदि मैं इस सभा में आप लोगों से आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के लिए कहूँ तो शायद एक भी व्यक्ति इसके लिए प्रस्तुत नहीं होगा। इससे प्रकट होता है कि हमारा जीवन कितना असर्यादित हो गया है। किन्तु कोई-कोई व्यक्ति इस तलवार की धार पर चलने वाले निकलते भी हैं। भाई नेमीचन्दजी कांकरिया ने सजोड़े यह व्रत धारण किया है। इसके लिए वे बधाई एवं प्रशंसा के पात्र हैं।

जंगल में वनराज सिंह रहता है। उसके नाम और शब्द से सारा जंगल गूंजता है। हम भी शेर से भयभीत रहते हैं। उसकी शक्ति का रहस्य क्या है? वह सारे जीवन में एक बार के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य का पालन करता है। यही उसकी शक्ति का रहस्य है। तब वह जंगली पशु भी यदि ऐसा कर सकता है, तो हम जो मानव हैं एवं स्वयं को पशुओं से श्रेष्ठ मानते हैं, ऐसा

क्यों नहीं कर सकते ? यदि मानव बड़ा है तो उसे बड़े कार्य करने चाहिए और अपनी श्रेष्ठता को सार्थक करना चाहिए। किन्तु संसार में देखते हैं तो कुछ उल्टी बात ही दिखाई देती है। चारों ओर असंयम का साम्राज्य फैला दिखाई पड़ता है। वासना ने मनुष्य को इस प्रकार ग्रस लिया है कि वह अपनी मानवता को ही बिसरा बैठा है। यदि कोई मादा पशु गर्भवती होती है तो नर पशु उसकी ओर देखने की इच्छा भी नहीं रखता है। किन्तु क्या यह मर्यादा हमें मनुष्यों में देखने को मिलती है ? वास्तविकता क्या है, इसे ज्ञानी ही जानें, अथवा भगवान जानें, किन्तु आज संसार में जैसी स्थिति, जितनी दुर्दशा दिखाई दे रही है वह अत्यन्त भयंकर है।

बंधुओ ! बिना परिणाम का विचार किए मनुष्य आँख मूँदकर अपने विनाश की दिशा में स्वयं ही भागा चला जा रहा है। अतः कुछ विचार कीजिए आप तो स्वयं बुद्धिमान हैं। अपनी बुद्धि का अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए उपयोग कीजिए। मैं तो आपको संकेत मात्र दे रहा हूँ। अधिक गहराई में आज आपको मैं ले नहीं जा रहा हूँ। हाँ, आवश्यकता होगी तब वैसा भी करूँगा, किन्तु इस समय तो आप मेरे संकेत को ही समझने का प्रयत्न कीजिए।

अस्तु, जीवन में समकित को धारण कीजिए। ऐसा करने के लिए समकिती गुरु की शरण में जाइये। यदि आप ऐसा करेंगे तो आपके अन्तस्तल में शुद्धता आ सकेगी तथा भीतर की कड़ी का विकास होगा। समकिती गुरु की संगति में रहकर अपने जीवन में आप एक ऐसा मोड़ ला सकेंगे जिससे आपको इस बात का ज्ञान और पहिचान हो सकेगी कि सच्ची शाँति क्या है और उस अखंड शाँति के मार्ग की ओर बढ़ने के लिए सही सोपान कौन से हैं ?

अस्तु, समकिती, आगमधर, दृढ़व्रतधारी सद्गुरु की संगति करके अपने जीवन में आप शाँति प्राप्त करने का प्रयत्न करें, ऐसी मेरी भावना है। ●

६ | उपदेश और आचरण

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती........।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण प्रतिदिन के अनुसार आज भी किया गया है। हमारा उद्देश्य यह है कि हम शान्ति के सोपान को समझ सकें, उसे प्राप्त कर सकें। वह शान्ति का सोपान हमें किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, यह जानने के लिए ही शान्ति के स्वरूप का विश्लेषण चल रहा है।

"तस्सेस मग्गो गुरु विद्ध सेवा.......।"

इस शास्त्रीय व्याख्या के अनुसार हम इतना विश्लेषण तो कर चुके हैं कि यदि उस शान्ति के सोपान को प्राप्त करना है तो उसके लिए गुरु और वृद्ध की सेवा करनी चाहिए तथा बालजनों से दूर हटना चाहिए। किन्तु बाल-जनों की व्याख्या करते हुए मैं अधिक विस्तार में नहीं जा सका था। केवल शब्द की व्याख्या ही समयाभाव के कारण हो सकी थी। अब मैं इस सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूँ।

जिस व्यक्ति को सत्-असत् का भान हो जाता है, हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का ज्ञान हो जाता है, जब वह यह समझने लगता है कि किन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, कौनसे पदार्थ ग्रहण करने चाहिए तथा किन पदार्थों का त्याग करना चाहिए, किस व्यक्ति के सम्पर्क में रहने से शान्ति प्राप्त हो सकती है तथा किस व्यक्ति के सम्पर्क से मार्ग में भटका जा सकता है, इत्यादि, तब यह व्यक्ति शान्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इस प्रकार का विज्ञान-परिज्ञान रखने वाला व्यक्ति ही विवेकवान है तथा ऐसे व्यक्ति को हम बाल-

जीव नहीं कहेंगे। यदि ऐसा ज्ञान नहीं है तो वह व्यक्ति स्वयं भी मार्ग में भटकेगा और ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में जो भी दूसरा व्यक्ति रहेगा, वह भी मार्ग से भटकेगा।

उदाहरण के लिए हम विष, अफीम तथा मिश्री, इन तीन पदार्थों को लें। जिस व्यक्ति को इन वस्तुओं के गुण अवगुण का ज्ञान नहीं है वह इनमें से कुछ भी खा सकता है और अपनी हानि कर सकता है। मिश्री पौष्टिक है, अफीम का सेवन अधिक मात्रा में जीवन के लिए भयकारी है तथा विप तो मनुष्य के लिए दूर से ही परिहरणीय है। इस बात का ज्ञान व्यक्ति को होना चाहिए। जो वालजन हैं, उन्हें यह ज्ञान नहीं होता।

कविता की कड़ियों में कहा गया है—"आगमधर गुरु समकिती।" इसमें गुरु को आगमधर तो होना ही चाहिए, किन्तु उसे समकिती भी होना चाहिए। क्योंकि केवल आगमों का शाब्दिक ज्ञान रखने वाले लोग तो वहुत से मिल सकते हैं। आगमों को अस्खलित कंठ से वे उच्चारित कर सकते हैं। किन्तु यदि वे समकिती नहीं हैं, तो उनका आगम-ज्ञान किसी भी प्रयोजन का नहीं है। ऐसा व्यक्ति जनता को शान्ति के मार्ग से विपरीत दिशा में मोड़ देगा।

अस्तु, यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि समकिती के लक्षण क्या हैं? समकिती का सबसे वड़ा लक्षण यह वताया गया है कि जिसमें "सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था"—हों, तो वही समकिती समझा जाता है।

आत्मा-परमात्मा की स्थिति के साथ यथार्थ के स्वरूप को समभाव के साथ समझना, यह समकित है। किन्तु 'सम' से अभिप्राय यह नहीं है कि आप मिश्री और अफीम को एक ही समान समझने लगें। अथवा गुड़ और गोवर को एक जैसा मान लिया जाय। 'सम' का अर्थ है कि जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही समझा जाय, अर्थात् गुड़ को गुड़ तथा गोवर को गोवर समझा जाय। सम को यदि विपम तथा विपम को सम समझ लिया गया तो वह भूल होगी। वालक को वूढ़ा तथा वूढ़े को वालक समझ लेना सम नहीं, विपम होगा।

अनुक्रम

संसार में षट् द्रव्य माने गए हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल। इन षट् द्रव्यों को यथास्थित समझना यह सम है। इसके साथ समवेग (संवेग)—सम्यक् प्रकार से वेग, अर्थात् उसकी गति हो। गति से यहाँ अभिप्राय केवल चलने से ही नहीं है, किन्तु आत्मा की खोज की ओर उसका लक्ष्य हो, यही उसकी गति है। चरम शान्ति का आदर्श स्थिर करके, स्वसमय का ज्ञान रखते हुए, वह गति करे। वह स्वसमय भी परम साध्य रूप में, परम लक्ष्य रूप में होना चाहिए। अनन्त शक्ति सम्पन्न का लक्ष्य स्थिर करके ही वह चलता है। तथा परम "साध्य अवस्था समापना"—जो परम साध्य अवस्था में स्थिर होता है, वही टिकता है। उससे भिन्न जो तत्व है वह सम्पूर्ण बाहरी स्थिति होती है।

अस्तु, ऐसी परम साध्य स्थिति ही सच्ची साधना की बनती है। वही परम साध्य स्थिति शान्ति की—चरम शान्ति की बनती है। इसी लक्ष्य को सामने रखकर वही साधना अपनाता है तो जिन साधनों को वह जीवन में स्थान देता है उनके द्वारा उसकी गति होती है तथा मानसिक वेग होता है। वह मानसिक वेग अथवा गति ही सही रूप है। यदि वह ठीक है, सही है और आत्मा की खोज को, चरम शान्ति को प्राप्त करने का लक्ष्य स्थिर हो गया है तो चाहे ऐसा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में भी हो और बाल-बच्चों से घिरा हो तब भी उसकी समस्त क्रियाएँ उसी चरम लक्ष्य की पूर्ति के लिए होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में हम कहेंगे कि सम के साथ संवेग भी जुड़ गया। वह मनुष्य सदा यही विचार करेगा कि उसे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना है, जब कभी उसे समय मिलेगा वह अपनी आध्यात्मिक साधना में दत्तचित्त हो जायगा। यह उसकी मानसिक स्थिति की गति मानी गई है। इस दृष्टि से संवेग है।

निर्वेद से अभिप्राय है संसार के समस्त पदार्थों से अनासक्ति। संसार के पदार्थ पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं। जो व्यक्ति इन इन्द्रियों के वशीभूत होकर सांसारिक पदार्थों के भोग में डूब जाता है वह निर्वेद को प्राप्त नहीं कर

सकता क्योंकि वहाँ वैराग्य नहीं, समकित नहीं। जो व्यक्ति इस निर्वेद को प्राप्त करना चाहता है, वह अपने मन को सांसारिक पदार्थों के आकर्षण से परे हटा लेता है। कर्मबन्धन करने वाले सस्ते और निकम्मे फिल्मी गायनों के स्थान पर वह प्रभु का स्मरण दिलाने वाले, प्रभु की स्तुति करने वाले सुन्दर भजनों में अपना मन लगाता है। यही निर्वेद है। इसके विपरीत सांसारिक पदार्थों के रूप जाल में फँसकर जो व्यक्ति इधर से उधर भटकता फिरता है, वह निर्वेद की स्थिति से बहुत दूर होता है।

एक पतंगा दीपक के रूप पर आकृष्ट होता। वह उसे प्राप्त करने के लिए उसकी ओर बढ़ता है। अपने अज्ञान में वह यह नहीं जानता कि दीपक का वह मनभावन रूप उसके लिए परम अनिष्टकारी है। परिणाम यह होता है कि वह दीपक की गर्मी से झुलस कर मूर्छित होकर गिर पड़ता है। फिर कुछ समय पश्चात् होश में आने पर द्रव्य मन न होने के कारण उसे भूत की बात याद नहीं रहती और केवल वर्तमान की ही भावना जागती है और वह पुनः उस दीपक के रूप को प्राप्त करने हेतु लपकता है। अन्त में दो-चार बार इस प्रकार से झंपापात करके वह अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। एक बार ऐसा प्रयत्न करने से क्या परिणाम हुआ था यह वह नहीं सोच पाता, क्योंकि यह सोचना द्रव्य मन के सहारे से होता है, जो कि उसके पास नहीं है, अतः वह विनष्ट हो जाता है।

तो एक पतंगा तो असंज्ञी है एक लघु कीट है। उसे भूत एवं भविष्यत् के विषय में सोचने की क्षमता नहीं है। किन्तु मनुष्य जो कि संज्ञी है, जिसे पाँचों इन्द्रियें मिली हैं, वह क्या करता है? देखा जाता है कि मनुष्य रूप के पीछे आसक्त होकर दर-दर की ठोकर खाता फिरता है। ऐसा व्यक्ति निर्वेग को प्राप्त नहीं होता। वह समकिती होने की स्थिति में नहीं पहुँच पाता। वह तो उल्टा संसार की ओर भागता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति निर्वेग की ओर चलते हैं वे यह सोचते हैं कि मुझे ये नेत्र मिले हैं, इन नेत्रों से मैं जिन-जिन को भी देख रहा हूँ, वे सब मेरी आत्मा के तुल्य हैं, जिस शरीर में मैं रह रहा हूँ उसी शरीर में ये भी रह रहे हैं। और आत्मा तो सत्-चित्-

आनन्दघन के रूप में है। अतः मुझे नाशवान पदार्थों को देखने से क्या प्रयोजन ? इन नाशवान पदार्थों के भीतर, चमड़ी के नीचे वही रक्त, मांस और हड्डियां हैं—जो कि घृणा का विषय है। इस प्रकार का विचार एवं लालसा जब आ जाए तब मानना चाहिए कि सम्यक्त्व का लक्षण आ गया। आगम की दृष्टि से शम, सवेग तथा निर्वेग का लक्षण इस प्रकार से बताया गया है।

अब हम अनुकंपा के विषय में विचार करें। कहा गया है—"अनुकूल कंपनम् अनुकम्पा।" अर्थात्, अन्य प्राणी के अनुकूल कंपन हो, अन्य प्राणी को यदि कष्ट हो रहा हो तो हमें भी वैसे ही कष्ट का अनुभव हो, तो अनुकंपा होना कहलाएगा। किसी दूसरे प्राणी को अशक्त देखा जाय, तो उसकी सहायता करने की भावना हृदय में उत्पन्न हो, यदि किसी को पीड़ा भोगते देखा जाय तो वही पीड़ा हमारे भी हृदय में जागे, तो अनुकंपा होगी। किसी असहाय प्राणी को देखकर मन में ऐसी भावना आनी चाहिए कि यदि मैं इस जैसी स्थिति में होता तो मुझे भी यह इच्छा होती कि कोई मेरी सहायता करे, तो मैं भी इस असहाय व्यक्ति की सहायता करूँ इसका दर्द केवल इसी अकेले का दर्द नहीं है, यह दर्द मेरा भी है। जिस व्यक्ति के मन में अनुकंपा है वह यही सोचेगा कि दूसरा प्राणी भी मेरे ही समान है, उसकी आत्मा मेरी आत्मा के ही तुल्य है। जब ऐसी स्थिति हो तब मानना चाहिए कि संवेग के साथ अनुकम्पा का लक्षण भी बन गया।

इसके विपरीत जो व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि—"मरे तो दूजा और हम करगणं पूजा"—तो यह अनुकंपा की भावना नहीं है। इस प्रकार की अनुकंपा से रहित व्यक्ति ऊपर से चाहे जितनी आध्यात्मिकता का प्रदर्शन करे, किन्तु वास्तविक में वह आध्यात्मिकता से योजनों दूर ही समझा जाएगा। कोई भी व्यक्ति समकिती तभी कहलाएगा जबकि वह अन्य प्राणियों की आत्मा को भी अपनी आत्मा के तुल्य मानेगा और उसमें सबके लिए सहानुभूति की, अनुकंपा की भावना होगी।

तो समकित का यह मापदण्ड स्वयं व्यक्ति के पास ही रहता है। यह

उसके हृदय का विश्वास है, भावना है। उदाहरण के लिए एक पंगु व्यक्ति है। अपने हाथ-पैरों से वह लाचार है। किन्तु किसी असहाय को देखकर यदि उसके मन में यह भावना होती है कि वह किसी प्रकार से उसकी सहायता कर सके, अर्थात् यदि उसकी 'श्रद्धा' है, तो वह समकिती है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के हाथ-पैर हैं, उसमें शक्ति है, और वह ऐसे स्थल पर उपस्थित है जहाँ कि कोई निर्बल सताया जा रहा है, और वह यदि शब्दों से भी अपनी सहानुभूति उसके प्रति प्रदर्शित करता है कि "भाई ! निर्बल को क्यों सता रहे हो ? इसे न सताओ," इत्यादि, तब भी उसकी अनुकंपा हो सकती है।

किन्तु इसके विपरीत यदि कोई समर्थ व्यक्ति किसी निर्बल की सहायता करने के स्थान पर ऐसा सोचता है कि जो हो रहा है, होने दो, मुझे क्या मतलब है ?—तो ऐसे व्यक्ति को किसी भी प्रकार से अध्यात्मवादी नहीं कहा जाएगा। बल्कि शास्त्रों का कथन है कि वहाँ प्रकारान्तर से नास्तिकवाद छिपा हुआ है, अन्यथा समर्थ होते हुए भी वह निर्बल की सहायतार्थ कुछ न कहे और कुछ न करे ऐसा हो नहीं सकता। ऐसे व्यक्ति के लिए तो यही कहना पड़ेगा कि सब कुछ होते हुए भी वह नास्तिक है। जबकि जिसके हृदय में श्रद्धा है, वह हाथ-पैर न होते हुए भी, स्वयं अशक्त होते हुए भी समकिती माना जायगा।

अस्तु, सम-संवेग-निर्वेद-अनुकंपा-आस्तिकता इस क्रम में अब आस्तिकता को भी समझ लेना चाहिए। आस्तिक्य का अर्थ है—आत्मा है, परमात्मा है, स्वर्ग है, नरक है, कर्म है, पाप है, पुण्य है, आस्रव है, संवर है, निर्जरा है, बंध है, और मोक्ष है—इनमें आस्था रखना। इसके साथ-साथ यह भावना भी होनी चाहिए कि आत्मा अनन्त शक्तिसम्पन्न है। यह आत्मा पर पदार्थों के ऊपर ही आसक्त हो रही है, किन्तु यह उसका स्वभाव नहीं है। इसका स्वभाव तो इन सबको त्याग कर निरंजन निराकार रूप में परिणत होने का है। लोक है, परलोक है, स्वर्ग है, नरक है, पशु आदि योनियाँ हैं तथा ये सब कर्मों की दृष्टि से हैं। जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल पाता है। जो समस्त कर्मों को नष्ट करना चाहता है वह ऐसा कर सकता है।

चाहिए यही कि वह यह विश्वास लेकर चले कि यह मेरा आस्तिक्य और स्वभाव मेरी आत्मा का है। ये मेरी आत्मा के साथ चल रहे हैं। वर्तमान में जिन पदार्थों के साथ सम्बन्ध है और जिन स्थितियों में मैं चल रहा हूँ वहाँ सुख नहीं, दुःख ही है। इस समय इन पदार्थों तथा स्थितियों में लिप्त होने पर शान्ति का अनुभव हो रहा है, किन्तु यह शान्ति झूठी है, क्योंकि यह अस्थायी है। मुझे वास्तविक सुख-शांति तो तभी प्राप्त होगी जब मैं अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानूंगा और उस चरम शक्ति को प्राप्त करूँगा। ऐसा सोचना ही आस्तिक्य है तथा जो ऐसा विचार रखता है, वही समकिती है।

ऐसे समकिती व्यक्ति का स्वाभाविक अगला चरण होना चाहिए—त्याग। क्योंकि समकित तो एक जानकारी है, ज्ञान है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसे क्रिया रूप में परिणत करना भी आवश्यक है, तभी आत्मकल्याण सध सकेगा। अन्यथा केवल जानकारी प्राप्त कर लेने से तो शुद्ध बनने वाला नहीं है जब तक कि त्याग की वृत्ति न अपनाई जाय और उस ज्ञान को आचरण में न उतारा जाय। कहा गया है—**आगमधर समकिती······क्रिया संवर·······।"** तो उस ज्ञान को क्रियात्मक रूप देना आवश्यक है।

अतः सच्चा समकिती व्यक्ति यह सोचेगा कि केवल समकिती बन जाने से मेरा कल्याण नहीं होगा। मुझे अधिक से अधिक इन विषयों का त्याग करना चाहिए और अपनी सत्-चित्-आनन्दघन आत्मा को प्राप्त करना चाहिए। मुझे समकित के रूप में उत्तम ज्ञान प्राप्त हुआ है तो अब मुझे त्यागने योग्य को त्यागना चाहिए और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना चाहिए। जब तक कोई समकिती इस प्रकार का विचार करके आगे का आचरण नहीं करता तब तक वह सम्यक्त्वी तो रहता है, किन्तु आगे आत्म-कल्याण के मार्ग पर नहीं बढ़ पाता।

जब तक आगे की यह क्रिया नहीं आती तब तक वह चतुर्थ गुणस्थान में रहते हुए हेय, ज्ञेय, उपादेय का ज्ञान करता है। उपादेय को उपादेय के

रूप तथा हेय-ज्ञेय को हेय-ज्ञेय के रूप में समझता है, किन्तु इस ज्ञान के आगे का फल प्रस्फुटित नहीं होता। उदाहरण के लिए मक्के के बीज को ही लीजिए। बीज उत्तम है, उसमें फलित होने की शक्ति है। किन्तु जब तक किसान उसे कोठे में से निकालकर खेत से संयुक्त नहीं करता तब तक उस मक्के के बीज में फलित होने की योग्यता की उपादान शक्ति कुछ काम नहीं आ सकती। खेत के साथ उसका संयोग भी हो जाय, किन्तु पानी का, खाद का संयोग जब तक न हो, वह नहीं उगेगा। खाद भी मिली, बीज उग भी गया, किन्तु प्रारम्भ में रक्षण करने के लिए दीवार न बनाई गई तो पौधे को कोई भी नष्ट कर सकता है। अभिप्राय यह है कि वहाँ अनाज के दाने में उपादान शक्ति होने पर भी निमित्त कारण सामग्री जब तक नहीं मिलेगी तब तक वह अंकुरित एवं फलित नहीं हो पाएगा।

एक अन्य उदाहरण लीजिए। कुंभकार घड़ा बनाता है। घड़े की उपादान-सामग्री मिट्टी है। मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है, किन्तु निमित्त कारण कुंभकार है। वह मिट्टी को तैयार करता है, उसका चिकना, गीला लौंदा बनाता है, उसे चाक पर चढ़ाता है और घड़ा बनकर तैयार होता है। तो उपादान शक्ति मिट्टी की है और निमित्त है कुंभकार। स्वयं उपादान में यह शक्ति नहीं है कि वह घड़े के रूप में परिणत हो जाय। निमित्त आवश्यक है। कुंभकार रूपी निमित्त ही उस मिट्टी रूपी उपादान में संस्कार डालकर उसे घड़े के रूप में परिणत कर सकता है।

किन्तु ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि यदि निमित्त ही सब कुछ है तो फिर निमित्त ही सब कुछ कर लेगा। यह एकान्त दृष्टि भी ठीक नहीं है। आस्तिक समकिती व्यक्ति ऐसा नहीं सोचेगा। वह तो अनेकान्त दृष्टि से यह विचार करेगा कि निमित्त के स्थान पर निमित्त महत्वपूर्ण है तथा उपादान के स्थान पर उपादान भी महत्वपूर्ण है। घड़े के बनने के लिए उपादान मिट्टी भी आवश्यक है, निमित्त कुम्भकार भी आवश्यक है तथा चाक, रस्सी इत्यादि सामग्री भी अपने स्थान पर आवश्यक है।

अतः जो समकिती गुरु है वह समर्थ पूर्ण सामग्री को ठीक तरह से

समझता है और स्वयं अपने जीवन में यथास्थान उतारने का प्रयत्न करता है। अर्थात् वह ज्ञान के साथ क्रिया का संयोग करता है। वह केवल "परोपदेशे पाण्डित्यं" जैसी बात नहीं करता। बन्धुओ ! पर 'उपदेश कुशल बहुतेरे' मिल जायेंगे, किन्तु इन गुणों को अपने जीवन में साकार रूप देने वाले विरले ही मिलेंगे। आपको आगमधर समकिती के लक्षण बताने की ये बातें गहन प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु यदि आप इन्हें ग्रहण कर सकेंगे तो ये बातें आपके जीवन की कड़ी बन जायेंगीं और आपके समक्ष शान्ति का सोपान खुलता चला जायगा।

एक विद्वान् महाशय उपदेश देने की दृष्टि से बड़े कुशल थे। प्रत्येक विषय का प्रतिपादन वे इस कुशलता से करते थे कि सुनने वाले मंत्रमुग्ध बन जाते। एक दिन एक बहुत बड़ी सभा जुड़ी हुई थी। उस सभा में उन्होंने बैंगन के दुर्गुणों का ऐसा प्रतिपादन किया कि सुनते ही लोगों को बैंगन के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। अनेक लोगों ने तो प्रण कर लिया कि चाहे प्राण चले जायँ किन्तु ऐसे दुर्गुणी बैंगन को अब कभी नहीं खायेंगे, ऐसे घृणित पदार्थ को स्पर्श करना भी उनके लिए पाप हो गया।

किन्तु वे विद्वान् महाशय केवल "परोपदेशे पांडित्यं" वाली उक्ति को ही चरितार्थ कर रहे थे एवं यह प्रतिपादन केवल श्रोताओं तक ही सीमित था। स्वयं वे महाशय बैंगन को खूब पसन्द करते थे और प्रतिदिन बैंगन का साग खाते थे। हुआ यह कि उस सभा में उनकी पुत्री भी उपस्थित थी। उसने यह वैराग्यपूर्ण उपदेश सुनकर सोचा कि पिताजी तो प्रतिदिन बैंगन का साग खाया करते थे, किन्तु शायद आज इन्हें कोई दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया है, अतः इन्होंने बैंगन की निन्दा की है। तो अब तो पिताजी कभी बैंगन नहीं खायेंगे।

भोली-भाली बालिका पण्डितजी के मन के भीतर की बात क्या जाने ? उसने सोचा कि माताजी तो घर पर आज भी पिताजी के लिए बैंगन का साग बनायेंगी, और पिताजी ऐसी घृणित वस्तु को देखकर बड़े दुःखी होंगे।

अतः व्याख्यान समाप्त होते ही वह भागी-भागी अपने घर पर गई और माता से बोली—"माँ, माँ ! कहीं तुमने आज भी बैंगन का साग तो नहीं बनाया है ? यदि बनाया है तो उसे कहीं छिपा दो और पिताजी के लिए कोई दूसरी सब्जी झट से बना दो ।" माँ ने पूछा—"क्यों बेटी ! आज ऐसी क्या बात हो गई ?" तब बालिका ने सारी घटना अपनी माता को बताई और कहा कि पिताजी के उपदेश को सुनकर बहुत से लोगों ने बैंगन का त्याग भी कर दिया है ।

माता को विश्वास हो गया । उसने बैंगन के साग को छिपा दिया और दूसरी सब्जी बना दी । पण्डित महाशय जब घर आये तब भोजन के समय उनकी थाली में दूसरी सब्जी थी । देखकर उन्होंने कहा—"अरी भागवान ! आज यह क्या घास जैसी सब्जी मेरे लिए परोस दी, क्या आज तूने बैंगन नहीं बनाये ?" माता ने जब अपनी पुत्री द्वारा कही गई सारी बात उनको बताई तब वे महाशय बोले—'क्यों बेटी ! तूने बैंगन की सब्जी बनाने से क्यों इन्कार किया ?" तब बालिका ने जैसी बात थी वैसी बता दी और कहा—"पिताजी ! आज आपने इतना सुन्दर उपदेश दिया और बैंगन को इतना खराब बताया कि बहुत से लोगों ने बैंगन का त्याग ही कर दिया। तब मैंने सोचा कि भला पिताजी ऐसी घृणित वस्तु को क्यों ग्रहण करेंगे ? अतः मैंने माताजी को बैंगन की सब्जी बनाने से मना कर दिया । यह सुनकर पण्डित महाशय ने कहा— 'छोकरी तू कुछ नहीं जानती । अरे, उपदेश देने का बैंगन कुछ और होता है तथा खाने का बैंगन कुछ और होता है ।"

अतः बन्धुओ ! ऐसे विद्वान् महाशय यदि किसी विषय का प्रतिपादन चाहे जितनी कुशलता से कर दें, किन्तु स्वयं उनके आचरण में जब तक वह बात नहीं उतरती तब तक न उनमें सम, संवेग, निर्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ही है और न वे आगमधर गुरु कहलाने के योग्य ही हैं । शास्त्रों की बातों को झाड़ देना तो केवल बौद्धिक दृष्टि है, यह बुद्धि का ज्ञान है और ग्रामोफोन में भरी हुई आवाज का तरह है । ऐसे ज्ञान से कोई लाभ नहीं होता और आत्मकल्याण भी नहीं हो सकता । ऐसे ही कोरे ज्ञान के चक्कर में पड़कर मनुष्य भटकता फिर रहा है ।

अनेक लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि हम त्याग करना चाहते हैं, त्याग कर भी देते हैं, किन्तु वह त्याग हमसे निभता नहीं है। तो यह मनुष्य के मन की कमजोरी है। यदि सच्चे मन से त्याग किया जाय, अर्थात् जिस वस्तु को त्यागा जाय उसके प्रति मन में घृणा का भाव हो, तो फिर उस वस्तु को पुनः ग्रहण करने की इच्छा नहीं होगी और त्याग निभ जायगा। समकिती व्यक्ति के मन में यह त्याग की भावना रहती है और वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी विषयों में आसक्त नहीं होता। इस प्रकार वह शान्ति के सोपान की ओर शनैः-शनैः अग्रसर होता चलता है।

मैं आपको त्रिखण्डाधिपति वासुदेव के जीवन की कुछ झाँकी दे चुका हूँ और बता चुका हूँ कि उनका जीवन कैसा समकिती था। उनकी पटरानी सत्यभामा का जीवन भी अलौकिक था, आदर्श था। अपने जीवन को वे चौसठ कलाओं से युक्त रखती थीं। ये चौसठ कलाएँ नारी जीवन के लिए अत्यावश्यक हैं, नारी की शोभा हैं। इन कलाओं में गायन तथा नृत्य की कलाएँ भी थी। किन्तु इन कलाओं का उपयोग वे किसी आसक्ति की दृष्टि से न करके अपने पतिदेव की रक्षा करने तथा उनके मन का रंजन करने की दृष्टि से ही करती थीं। उस युग में इन कलाओं का उपयोग अथवा शिक्षण प्रदर्शन के रूप में नहीं होता था। वे नारियाँ यही सोचती थीं कि मैं पतिव्रता हूँ, अपने पति को कुमार्ग पर जाने से रोकने का प्रयत्न करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। मैं पति को भोजन कराती हूँ, पानी पिलाती हूँ, किन्तु इतने मात्र से मेरा कर्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता, बल्कि पति को दुर्व्यसनों से बचाना तथा उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाना भी मेरा कर्तव्य है। मेरा दायित्व है। अतः अपने पति को सद्गुणी बनाने की दृष्टि से वे इन कलाओं को सीखकर पति को प्रसन्न रखती थी ताकि पति के पैर बाहर न जायें और वे दुर्व्यसनों से बचे रहें। संक्षेप में वे सम्यक् दृष्टि आत्माएँ अपनी कला का सम रूप से प्रयोग करती थी—विषम रूप से नहीं।

किन्तु आज की स्थिति क्या है? आज जो लड़कियाँ ये गायन-नृत्य आदि सीखती हैं उनका क्या उपयोग करती हैं? देखने में आता है कि इन कलाओं

का उपयोग आज केवल प्रदर्शन हेतु ही किया जा रहा है। स्टेज पर नृत्य अथवा गायन प्रस्तुत करके लड़कियाँ अपने रूप एवं यौवन का प्रदर्शन सारे समाज के सामने करती हैं और युवकों को अपनी ओर आकर्षित होते देखकर तथा उनकी तालियों की गड़गड़ाहट एवं 'वाह-वाह' को सुनकर प्रसन्न होती हैं।

क्या यही सभ्यता है? क्या यही सम्यक्त्व है? अपने रूप-यौवन का इस प्रकार से नग्न प्रदर्शन करके जन-समुदाय की वासनाओं को भड़काना कदापि नारियों के लिए शोभनीय नहीं है। आज जो अभिभावक अपनी कन्याओं को इस प्रकार की छूट देते हैं वे नहीं जानते कि इस प्रकार वे अपनी सन्तान का कितना अहित कर रहे हैं। चाहिए तो यह कि वे अपनी कन्याओं को कुछ सम्यक्त्व का शिक्षण दें, आध्यात्म की शिक्षा प्रदान कराएँ, किन्तु कर वे उससे विलकुल विपरीत ही रहे हैं।

भारतीय संस्कृति में ऐसे अमर्यादित जीवन पर सदैव रोक लगाई गई है। किन्तु आज पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर, उस उच्छृङ्खल समाज का अन्धानुकरण करते हुए कालेजों और विश्वविद्यालयों में सहशिक्षा के नाम से इस अमर्यादित जीवन को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसका परिणाम महा भयंकर रूप में हमारे सामने आ भी रहा है। हमारे समाज की लड़कियाँ ऐसी शिक्षा में पलकर कहाँ से कहाँ जा रही हैं, इस तथ्य का खुला चिट्ठा यदि आपके सामने मैं रखूं तो आप विस्मय में डूब जायँगे। यह अराजकता और अनैतिकता फैलती चली जा रही है और हम आँख मूंदे बैठे हैं। ये माताएँ भी ध्यान नहीं देतीं कि उनकी कन्याएँ क्या कर रही हैं, किस आग से खेल रही हैं। आगे चलकर ये कुल की परम्परा का निर्वाह कैसा करेंगी इस बात का भी रत्ती भर ध्यान इनको नहीं है।

मैं पहिले तो कुछ ध्यान में नहीं लाता था और गृहस्थ अवस्था की दृष्टि से देखा है कि दूल्हा बैठ जाता है और भौजाइयें तथा अन्य स्त्रियाँ अन्य वहुत से सगे-सम्बन्धियों के सामने नाचती हैं। किन्तु वाद में गुरु के चरणों में पहुँचने पर मैंने समझा कि इस प्रकार से लोगों के मन में विकारों की होली